श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला पुष्प : ४४

मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें

★

श्री पं॰ टोडरमलजी कृत मोक्षमार्ग प्रकाशक पर
पूज्य श्री कानजीस्वामी के
प्रवचन

★

अनुवादक
मगनलाल जैन

प्रकाशक
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

प्रथम संस्करण वीर संवत् २४७६
प्रति १०००
द्वितीय संस्करण वीर संवत् २४७९
प्रति १०००
तृतीय संस्करण वीर संवत् २४८५
प्रति १०००

मूल्य
एक रुपया

मुद्रक—
नेमीचन्द बाकलीवाल
कमल प्रिन्टर्स
मदनगंज (किशनगढ़)

निवेदन

श्रीमान् पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ जैन समाज में विख्यात है। वीर संवत् २४७० में इस ग्रन्थ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी ने प्रवचन प्रारम्भ किये थे। उस समय उन प्रवचनों में से कितने ही सारभूत न्याय लिख लिये गये थे। मोक्षमार्ग प्रकाशक में कुल ९ अधिकार हैं। उनमें से प्रथम छह अधिकारों के प्रवचनों में से अवतरित किये हुए न्याय इस पुस्तक में प्रकाशित किये गये हैं। सातवां अधिकार "जैनमतानुयायी मिथ्यादृष्टियों का स्वरूप" नामक है, वह अधिकार जिज्ञासुओं को अत्यावश्यक है, इसलिये उस पर के लगभग सभी प्रवचन लिख लिये गये हैं, जो लगभग एक हजार पृष्ठों के बराबर हैं।

मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ को सूर्य की उपमा दी गई है, सूर्य के समान यह मोक्ष के मार्ग को प्रकाशित करता है। और यह प्रवचन "मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें" हैं जैसे सूर्य की किरणें अंधकार को नष्ट करके प्रकाश को फैलाती हैं उसीप्रकार यह किरणें भी भव्य जीवों के लिये मोक्ष के मार्ग को प्रकाशमय बनाती हैं। जो भव्य जीव अपने अंतरपट में इन किरणों को प्रविष्ट करता है उसके अंतर में अवश्य ही ज्ञानप्रकाश होता है और अज्ञान अंधकार विलीन हो जाता है।

इस पुस्तक में कुल १६३ किरणें हैं, उनमें विविधप्रकार के अनेक न्याय हैं। इन विषयों में मुख्यतया ज्ञानी और अज्ञानी जीवों के बीच के मूलभूत अंतरंग भेदों की पहिचान कराई

है। अज्ञानी के अभिप्राय मे किस किस प्रकार की गहरी भूलें होती हैं दु खों को दूर करने के उनके सभी प्रयत्न कैसे विपरीत होते हैं, ज्ञानी के सब प्रसगों मे कैसा सम्यकअभिप्राय रहता है और अज्ञानी के सभी प्रसगों में कैसा मिथ्याअभिप्राय होता है—इस विषय मे इन व्याख्यानो में सविस्तार अत्यन्त स्पष्टरूप से समझाया गया है। इसप्रकार अज्ञान और ज्ञान के बीच के मूलभूत अन्तर को बतलाकर सम्यक्ज्ञान प्राप्त करने का उपाय इसमें बताया है। इस पुस्तक के छपने से पहले पूज्य श्री कानजीस्वामी ने पढ़ लेने की कृपा की है। पूज्य गुरुदेव के श्रीमुख से प्रगट हुई इन किरणो द्वारा मोक्ष का मार्ग शाश्वत प्रकाशमान रहे!

श्री ऋषभदेव निर्वाण कल्याणक दिन वीर सं २४७४ पौष वदी १८ सोनगढ़	रामजी माणेकचंद दोशी प्रमुख श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़

श्री वीतरागाय नमः

प्रथम अध्याय

(१) ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ता

जिसे जीवों ने अनादिकाल से नहीं जाना, उस मोक्षमार्ग का प्रकाश करने वाला यह ग्रन्थ है। इस मोक्षमार्गप्रकाशक में पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी ने हजारों सत्शास्त्रों का दोहन करके आचार्यों के कथन का रहस्य अवतरित किया है।

(२) सिद्ध भगवान की पहिचान से भेदविज्ञान

जो जीव सिद्ध भगवान के स्वरूप को जानता है वह विज्ञानरूप होता है अर्थात् उसे भेदविज्ञान होता है। वह किस प्रकार होता है? जब जीव सिद्ध भगवान को पहिचान लेता है तब उसे ऐसी भावना होती है कि अहो! यह सिद्ध भगवान सम्पूर्ण सुखी हैं उनका ज्ञान भी परिपूर्ण है, उनके राग द्वेष नहीं हैं, कर्म नहीं हैं और शरीर नहीं है, सिद्ध भगवान आत्मा हैं और मैं भी आत्मा हूँ स्वभाव की अपेक्षा से सिद्ध में और मुझमें अन्तर नहीं है। सिद्ध भगवान की भांति मैं अपने स्वभाव से परिपूर्ण हूँ। सिद्ध के स्वरूप में राग द्वेष, कर्म अथवा शरीर नहीं हैं, वैसे ही मेरे स्वरूप में

भी राग द्वेष, कर्म या शरीर नहीं हैं सिद्ध के पुण्य पाप का भाव नहीं है वैसे ही मेरे भी वर्तमान में जो पुण्य पापभाव होते हैं वे मेरे स्वभावभाव नहीं किन्तु उपाधिभाव हैं। जो सिद्ध के नहीं है वह मेरे भी नहीं है। आत्मा का स्वभाव-भाव शुद्ध-पवित्र है, उस भाव के द्वारा सिद्ध भगवान ने रागादि उपाधिभावों को दूर किया है और स्वद्रव्य की स्थिरता के द्वारा पर द्रव्यों का अहंकार नष्ट किया है जो सिद्ध के आत्मा में से दूर हो गया है वह सब मेरे आत्मा में से भी निकलने योग्य ही है और मात्र सिद्धसमान शुद्धस्वभाव भाव रहने योग्य है। इस प्रकार सिद्धस्वरूप के ज्ञान-ध्यान द्वारा भव्य जीवों को स्वभाव और परभाव का भेदविज्ञान होता है, इसलिये श्री सिद्ध भगवन्त मंगलरूप है, उन्हें हमारा नमस्कार हो। जैसे सिद्ध हैं वैसा ही मैं हूँ, और जैसा मैं हूँ वैसे ही सिद्ध हैं-ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप को दर्शाने के लिये सिद्ध भगवान प्रतिबिम्ब के समान हैं।

(३) मंगल कौन है ?

प्रश्न—मोक्षमार्गप्रकाशक का प्रारम्भ करते हुए पंच-परमेष्ठी को मांगलिकस्वरूप कहा है किन्तु पंचपरमेष्ठी तो परद्रव्य हैं, यदि परद्रव्य को मांगलिक कहोगे तो निमित्त का बल आयेगा ?

उत्तर—पंचपरमेष्ठियों को मांगलिकरूप कहा, उसमें निमित्त पर भार नहीं देना है, किन्तु पंचपरमेष्ठी को यथार्थरूप से जानकर उन्हें स्मरण में लेनेवाला अपना जो

नान है वह नान ही परम मागलिक है इससे वास्तव म नानस्वभाव का ही बल है। पचपरमेष्ठी स्वत अपने लिय मागलिकरूप हैं और इस आत्मा के लिये अपना निमल भाव मागलिक रूप है। पचपरमष्ठिया की पहिचान और स्मरण करन स अपने भावा म तीव्र कषाय दूर होकर निमलता होती है–वही मगल है।

(४) मागलिक

आत्मा में कवलज्ञान प्रगट हो वही सुप्रभात है और वही आत्मा का मागलिक है। आत्मा के पूणस्वभाव–केवलज्ञान को पहिचानकर जिसे उसकी महिमा आती है उसक विकार की और पर की महिमा दूर हो जाती है–वही मगल है।

आत्मा स्वत सहज स्वरूप से दृष्टि, नान, आनन्द, पुरुषाथ इत्यादि से पूण स्वभाव सम्पदा का मन्दिर है। आत्मा को अपने श्रद्धा नान सुखादि क लिय बाह्य की किसी लक्ष्मी की आवश्यकता नही है, कि तु स्वत ही स्वभाव की पूण लक्ष्मी का वीतरागी म दिर है। आत्मा का स्वरूप नान आन द से तादात्म्यरूप है, वह कभी नान आन द स्वभाव से वञ्चित नही होता। अपन पूण नानान द स्वभाव की दृष्टि और लीनता स जिन सत्पुरुषा के केवलनान और अन त सुख प्रगट हुआ है उनके आत्मा म सुप्रभात का उदय हुआ और सादिअनन्त काल मगल वष का प्रारम्भ हुआ है। ऐसे श्री जिने द्र भगव तो का हमारा भक्तिपूवक नमस्कार हो।

(५) सत्शास्त्रों का स्वरूप

"जो आगम मोक्षमार्ग का प्रकाश करे वही पठन श्रवण करने योग्य है, कारण कि संसार में जीव अनेक प्रकार के दुखों से पीड़ित हैं। यदि शास्त्ररूपी दीपक द्वारा वे मोक्षमार्ग को प्राप्त करले तो उस मार्गमार्ग में गमन करके इन दुखों से मुक्त हो जाय। मोक्षमार्ग तो मात्र वीतरागभाव है, इसलिये जिन शास्त्रों में किसी प्रकार राग द्वेष, मोहभावों का निषेध करके वीतरागभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो वही शास्त्र सुनने एवं स्वाध्याय करने योग्य हैं।"

(गुजराती मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ १५)

सत्शास्त्रों का प्रयोजन वीतरागभाव की पुष्टि करने का ही है।

सत्शास्त्रों में चाहे जो बात की गई हो किन्तु उसमें राग-द्वेष-मोह को मिटाने और वीतरागभाव का पोषण करने का ही प्रयोजन है। भक्ति, शास्त्र श्रवण दानादि करने की बात की हो वहाँ भी उसमें जो राग है उसका निषेध ही किया है। देव गुरु शास्त्र की भक्ति इत्यादि में शुभराग होता है किन्तु कुगुरु कुदेव कुशास्त्र के प्रति राग का उसमें प्रथम ही निषेध आता है, इससे वहाँ भी राग दूर करने का प्रयोजन सिद्ध होता है। सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति-पूजादि का कथन हो वहाँ पर जो वीतरागी स्वरूप की दृष्टिपूर्वक अशुभ राग दूर हुआ वह प्रयोजन है, किन्तु जो शुभराग रह गया है उसका प्रयोजन नहीं है, उसका तो निषेध है।

सत्शास्त्र की स्वाध्याय करने से शुभराग होता है, किन्तु शास्त्रों का प्रयोजन तो यह बतलाने का है कि यह शुभराग भी आत्मा का स्वरूप नहीं है इससे यह भी रखने योग्य नहीं है। स्वरूप की दृष्टि सहित शुभभाव हो वह अशुभ भावों से बचाते हैं इसस उनके द्वारा वीतरागभावरूप प्रयोजन अंशतः सिद्ध होता है। शास्त्र किसी भी प्रकार का राग रखने के लिये नहीं कहते, किन्तु किसी न किसी प्रकार से राग टालने का उपाय ही शास्त्र बतलाते हैं। शास्त्र आत्मा की स्वतन्त्रता बतलाते हैं कि तुम स्वतन्त्र हो, अपने से ही परिपूर्ण हो, हमारा अवलम्बन भी तुम्हें नहीं है। इस प्रकार शास्त्र आत्मा की स्वतन्त्रता को बतलाकर मोह और राग द्वेष का त्याग कराते हैं। राग कम होकर जितना वीतरागभाव हुआ उतना ही प्रयोजन सफल हुआ है और जो राग शेष रहा वह रखने योग्य नहीं है।

जिसमें किसी भी प्रकार से राग करने का प्रयोजन बताया हो वह सत्शास्त्र नहीं है। सत्शास्त्र किसी भी प्रकार से राग करने का प्रयोजन बतलाते ही नहीं।

भक्ति इत्यादि शुभराग का उपदेश हो वहाँ भी वीतरागता का ही प्रयोजन है।

प्रश्न—भगवान की भक्ति शुभराग है, तथापि सत्शास्त्र में तो वह करने का उपदेश आता है?

उत्तर—सत्शास्त्र में जहाँ भगवान की भक्ति करने को कहा हो वहाँ अशुभ राग टालने का प्रयोजन है और जो

शुभराग रह जाता है उस रखने का भी उपदेश नहीं है। सत्शास्त्र का पूर्ण प्रयोजन तो अशुभ और शुभ दोनों राग छुड़ाकर सम्पूर्ण वीतरागता कराने का ही है, किन्तु जहाँ वह प्रयोजन पूर्ण रूप से सिद्ध न होता हो वहाँ एकदेशप्रयोजन सिद्ध करने के लिये अशुभ से छुड़ाने को शुभ का उपदेश दिया जाता है।

सत्शास्त्र राग से और कुमार्ग से बचाते हैं।

सत्शास्त्रों में कभी कभी तो ऐसा भी कथन आता है कि यदि तू जिनेन्द्र भगवान को मान तो तेरा बाँझपन दूर हो जाय और पुत्र की प्राप्ति हो। इसमें भी किसी अंश में राग को कम कराने का ही प्रयोजन है। यदि पुत्र प्राप्ति की इच्छा से वीतरागदेव को माने तो वहाँ मिथ्यात्व ही है, किन्तु लौकिक हनुमान, पीर आदि कुदेवों को मानने से जीव के अत्यंत तीव्र राग है, उससे बचाने के प्रयोजन का विचार करके सच्चे देव को मानने के लिये कहा है। पुत्र प्राप्ति की इच्छा से भी यदि कुदेवादि को छोड़कर सच्चे वीतरागदेव को माने तो राग कुछ मन्द होता है और कुदेवादि के पास तो उसे सत् समझने का अवकाश ही नहीं था, अब सुदेवादि के मानने से कभी भी उसे सत् को समझने का अवकाश है। इस प्रकार जितना राग मन्द होता है उतना ही वहाँ शास्त्र का प्रयोजन है, जो राग शेष रहा वह तो छोड़ने योग्य ही है।

सत्शास्त्र प्रथम तो पूर्णता का ही उपदेश देते हैं कि—तेरा स्वभाव सब प्रकार से परिपूर्ण है, उसकी श्रद्धा–

ज्ञान-स्थिरता करके इसी क्षण पूर्ण परमात्मा हो जा! मिथ्यात्व और रागमात्र को निकालकर चिदानन्द वीतराग हो! यदि सम्पूर्ण वीतरागता न हो सके तो सम्पूर्ण वीतरागी स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान कर! और यदि श्रद्धा-ज्ञान भी तत्क्षण न हो सकें तो उनकी जिज्ञासापूर्वक सत्देव गुरु शास्त्र के अवलम्बन द्वारा कुदेवादि के प्रति जो राग है उसे छोड़!

इसमें जो शुभराग होता है वह राग कराने का शास्त्र का प्रयोजन नहीं है किन्तु जितने अंश में राग दूर हुआ उतना ही प्रयोजन है। शास्त्र का मुख्य प्रयोजन तो जीव को मोक्षमार्ग में लगाने का है। सच्चे शास्त्र किसी भी प्रकार से जीव को राग और कुमार्ग से बचाते हैं। राग की या कुदेवादि की पुष्टि करानेवाला कथन किसी भी वीतरागी शास्त्र में नहीं होता। 'तुझसे यदि शुभराग न हो, तो तू पाप करना अथवा कुदेवादि की मान्यता करना'—ऐसा वचन किसी भी सत्शास्त्र में होता ही नहीं।

अन्य शास्त्र हैं वे सत्शास्त्र क्यों नहीं?

प्रश्न—सत्शास्त्रों में राग को कम करने का प्रयोजन है—ऐसा कहा, किन्तु अन्य शास्त्रों ने भी राग कम करने के लिये तो कहा है, इसलिये उन्हें भी सत्शास्त्र कहना पड़ेगा?

उत्तर—सत्शास्त्रों का कोई भी कथन राग की पुष्टि करानेवाला होता ही नहीं। अन्य शास्त्रों में किसी समय तो राग कम करने के लिये कहते हैं और कभी राग करने को कहते हैं, अर्थात् एक प्रकार का राग कम करने को कहकर

दूसरे प्रकार के राग की पुष्टि कराते हैं यानी वे राग की ही पुष्टि कराते हैं। भगवान की भक्ति मे जो शुभराग है वह राग करने की अन्य शास्त्र पुष्टि करते हैं इसमे उन शास्त्रों में राग को कम करने का उपदेश यथार्थ नहीं है। शुभराग करते-करते धर्म होगा—ऐसा जो शास्त्र कहते हैं वे राग करने की ही पुष्टि करते हैं सत्शास्त्र कभी भी राग से धर्म मनाते ही नहीं। राग को दूर करते करते धर्म होता है किन्तु राग करने से धर्म नहीं होता। सच्चे जैन-शास्त्रों में तो राग के एक अंश से लेकर सम्पूर्ण राग छुडाने का ही उपदेश है। राग का एक अंश मात्र भी रखने का उपदेश जैन शास्त्रों में होता ही नहीं। शुभराग करने की बात की हो वहाँ भी जो राग है वह करने का प्रयोजन नहीं है, किन्तु जो तीव्र राग था वह घटाने का प्रयोजन है। वीतरागी शास्त्रों मे राग को छुडाने का ही आदेश है राग करने का नहीं। (राग कहने से मिथ्यात्व अज्ञान और कषाय तीनों समझना चाहिये। मिथ्यात्वपूर्वक जो राग है वही अनन्तानुबन्धी राग है, वह मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी राग द्वेष सब से प्रथम छोडने योग्य हैं।)

सत्शास्त्र में जहाँ शुभराग का उपदेश हो वहाँ भी मोक्षमार्ग का ही प्रयोजन है, किन्तु राग स्वत धर्म नहीं है।

प्रश्न—सत्शास्त्र तो मोक्षमार्ग का प्रकाश करनेवाले होते हैं। तब फिर शास्त्र में जहाँ अज्ञानी को शुभराग करने

की बात आती है वहाँ मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किस प्रकार हुआ ? सम्यग्दर्शन के बिना तो मोक्षमार्ग होता ही नहीं।

उत्तर—अज्ञानी को शुभराग करने के लिये वहां हो वहां राग का प्रयोजन नहीं है किन्तु कुदेवादि की मान्यता से बचाकर सच्चे देव, गुरु, धर्म की मान्यता कराने का प्रयोजन है। वहाँ पर तीव्र मिथ्यात्व मन्द हुआ है–इस अपेक्षा से उसे व्यवहार मोक्षमार्ग कहा जाता है। वास्तव में तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही मोक्षमार्ग है, राग मोक्षमार्ग नहीं है, और उस राग से धर्म नहीं है, किन्तु कुदेवादि की मान्यता में जो तीव्र मिथ्यात्व है वह वीतरागी देव को मानने से मन्द होता है, और सत् निमित्त होने से सत् को समझने का अवकाश है इससे उपचार से उसे मोक्षमार्ग कहा जाता है। सच्चे देव गुरु शास्त्र यह बतलाते हैं कि हे आत्मन्! तुम स्वतंत्र हो, पूर्ण ज्ञानस्वरूप हो, राग तुम्हारा स्वरूप नहीं है।

ज्ञानियों का उपदेश जीवों को सरल रीति से अथवा परम्परा से मोक्षमार्ग में लगाने के लिये है।

ज्ञानियों का उपदेश जीवों के कल्याण के लिये होता है। कभी कोई जीव मोक्षमार्ग समझने की योग्यतावाला नहीं हो तो जिससे राग घटे वैसा उपदेश उसे देते हैं। जैसे— कोई मांसाहारी भील किन्हीं मुनिराज के पास उपदेश सुनने के लिये बैठ गया, अब यदि श्रीमुनि उसे मोक्षमार्ग का उपदेश देने लग जायें तो उसे कुछ भी समझ में नहीं

दूसरे प्रकार के राग की पुष्टि कराते हैं यानी वे राग की ही पुष्टि कराते हैं। भगवान की भक्ति में जो शुभराग है वह राग करने की अन्य शास्त्र पुष्टि करते हैं इसमें उन शास्त्रों में राग को कम करने का उपदेश यथार्थ नहीं है। शुभराग करते करते धर्म होगा—ऐसा जो शास्त्र कहते हैं वे राग करने की ही पुष्टि करते हैं, सत्शास्त्र कभी भी राग से धर्म मनाते ही नहीं। राग को दूर करते करते धर्म होता है, किन्तु राग करने से धर्म नहीं होता। सच्चे जैन-शास्त्रों में तो राग के एक अंश से लेकर सम्पूर्ण राग छुड़ाने का ही उपदेश है। राग का एक अंश मात्र भी रखने का उपदेश जैन-शास्त्रों में होता ही नहीं। शुभराग करने की बात की हो वहाँ भी जो राग है वह करने का प्रयोजन नहीं है, किन्तु जो तीव्र राग था वह घटाने का प्रयोजन है। वीतरागी शास्त्रों में राग को छुड़ाने का ही आदेश है राग करने का नहीं। (राग कहने से मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय तीनों समझना चाहिये। मिथ्यात्वपूर्वक जो राग है वही अनन्तानुबंधी राग है, वह मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी राग द्वेष सब से प्रथम छोड़ने योग्य हैं।)

सत्शास्त्र में जहाँ शुभराग का उपदेश हो
वहाँ भी मोक्षमार्ग का ही प्रयोजन है,
किन्तु राग स्वतः धर्म नहीं है।

प्रश्न—सत्शास्त्र तो मोक्षमार्ग का प्रकाश करनेवाले होते हैं। तब फिर शास्त्र में जहाँ अज्ञानी को शुभराग करने

की बात आती है वहाँ मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किस प्रकार हुआ ? सम्यग्दर्शन के बिना तो मोक्षमार्ग होता ही नहीं।

उत्तर —अज्ञानी को शुभराग करने के लिये कहा हो वहाँ राग का प्रयोजन नहीं है किन्तु कुदेवादि की मान्यता से बचाकर सच्चे देव, गुरु, धर्म की मान्यता कराने का प्रयोजन है। वहाँ पर तीव्र मिथ्यात्व अगत मन्द हुआ है—इस अपेक्षा से उसे व्यवहार मोक्षमार्ग कहा जाता है। वास्तव मे तो सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही मोक्षमार्ग है राग मोक्षमार्ग नहीं है, और उस राग से धर्म नहीं है किन्तु कुदेवादि की मान्यता में जो तीव्र मिथ्यात्व है वह वीतरागी देव को मानने से मन्द होता है, और सत् निमित्त होने से सत् को समझने का अवकाश है इससे उपचार से उसे मोक्षमार्ग कहा जाता है। सच्चे देव गुरु शास्त्र यह बतलाते हैं कि हे आत्मन्! तुम स्वतन्त्र हो, पूर्ण ज्ञानस्वरूप हो, राग तुम्हारा स्वरूप नहीं है।

ज्ञानियों का उपदेश जीवों को सरल रीति से अथवा परम्परा से मोक्षमार्ग में लगाने के लिये है।

ज्ञानियों का उपदेश जीवों के कल्याण के लिये होता है। कभी कोई जीव मोक्षमार्ग समझने की योग्यतावाला नहीं हो तो जिससे राग घटे वैसा उपदेश उसे देते हैं। जैसे— कोई मांसाहारी भील किन्हीं मुनिराज के पास उपदेश सुनने के लिये बैठ गया, अब यदि श्रीमुनि उसे मोक्षमार्ग का उपदेश देने लग जायें तो उसे कुछ भी समझ में नहीं

दूसरे प्रकार के राग की पुष्टि कराते है, यानी वे राग की ही पुष्टि कराते है। भगवान की भक्ति में जो शुभराग है वह राग करने की अन्य शास्त्र पुष्टि करते हैं इससे उन शास्त्रो में राग को कम करने का उपदेश यथार्थ नही है। शुभराग करते करते धर्म होगा—ऐसा जो शास्त्र कहते हैं वे राग करने की ही पुष्टि करते हैं सत्शास्त्र कभी भी राग से धर्म मनाते ही नही। राग को दूर करते करते धर्म होता है, किन्तु राग करने से धर्म नही होता। सच्चे जन–शास्त्रो मे तो राग के एक अश से लेकर सम्पूर्ण राग छुडाने का ही उपदेश है। राग का एक अश मात्र भी रखने का उपदेश जन शास्त्रो में होता ही नही। शुभराग करने की बात की हो वहां भी जो राग है वह करने का प्रयोजन नही है, किन्तु जो तीव्र राग था वह घटाने का प्रयोजन है। वीतरागी शास्त्रो में राग को छुडाने का ही आदेश है राग करने का नही। (राग कहने से मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय तीनो समझना चाहिये। मिथ्यात्वपूर्वक जो राग है वही अनन्तानुबन्धी राग है, वह मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी राग द्वेष सब से प्रथम छोडने योग्य हैं।)

सत्शास्त्र में जहाँ शुभराग का उपदेश हो
वहाँ भी मोक्षमार्ग का ही प्रयोजन है,
किन्तु राग स्वत धर्म नहीं है।

प्रश्न—सत्शास्त्र तो मोक्षमार्ग का प्रकाश करनेवाले होते हैं। तब फिर शास्त्र में जहां अज्ञानी को शुभराग करने

की बात आती है वहाँ मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किस प्रकार हुआ ? सम्यग्दर्शन के बिना तो मोक्षमार्ग होता ही नहीं।

उत्तर —अज्ञानी को शुभराग करने के लिये कहा हो वहाँ राग का प्रयोजन नहीं है किन्तु कुदेवादि की मान्यता से बचाकर सच्चे देव, गुरु, धर्म की मान्यता कराने का प्रयोजन है। वहाँ पर तीव्र मिथ्यात्व मन्द हुआ है—इस अपेक्षा से उसे व्यवहार मोक्षमार्ग कहा जाता है। वास्तव में तो सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही मोक्षमार्ग है, राग मोक्षमार्ग नहीं है, और उस राग से धर्म नहीं है, किन्तु कुदेवादि की मान्यता में जो तीव्र मिथ्यात्व है वह वीतरागी देव को मानने से मन्द होता है, और सत् निमित्त होने से सत् को समझने का अवकाश है इससे उपचार से उसे मोक्षमार्ग कहा जाता है। सच्चे देव गुरु शास्त्र यह बतलाते हैं कि हे आत्मन्! तुम स्वतन्त्र हो, पूर्ण ज्ञानस्वरूप हो, राग तुम्हारा स्वरूप नहीं है।

ज्ञानियों का उपदेश जीवों को सरल रीति से अथवा परम्परा से मोक्षमार्ग में लगाने के लिये है।

ज्ञानियों का उपदेश जीवों के कल्याण के लिये होता है। कभी कोई जीव मोक्षमार्ग समझने की योग्यतावाला नहीं हो तो जिससे राग घटे वैसा उपदेश उसे देते हैं। जैसे— कोई मांसाहारी भील किन्हीं मुनिराज के पास उपदेश सुनने के लिये बैठ गया, अब यदि श्रीमुनि उसे मोक्षमार्ग का उपदेश देने लग जायें तो उसे कुछ भी समझ में नहीं

आयेगा, इससे श्रीमुनि उससे कहते हैं कि–देख भाई ! हिरण आदि निर्दोष प्राणियों के मारने म पाप है और उसके फल मे नरक है, इसलिये तू शिकार छोड दे, मांस भक्षण छोड दे तो तेरा कल्याण होगा ।

मांस भक्षण छोड देने से कल्याण होगा–ऐसा कहा है, वहाँ पर ऐसा आशय है कि वह दुर्गति म न जाकर स्वर्गादि म जायगा, इस अपेक्षा से उसका कल्याण कह दिया है । और भविष्य म उसकी पात्रता होगी तो ऐसा विचार करेगा कि अहो ! मात्र मांस भक्षण का राग छोड़ा उसका तो इतना फल है तब फिर सम्पूर्ण रागरहित स्वभाव की महिमा कैसी होगी ! ऐसे विचार से वह मोक्षमार्ग म भी लग जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष या परम्परा से भी जिनशासन म जीवो को मोक्षमार्ग म लगाने का ही प्रयोजन है ।

मुनिराज ने ऐसा कहा कि मांस भक्षण छोड द, तेरा कल्याण होगा'—यह सुनकर यदि उस समय वह भील विशेष जिज्ञासा से ऐसा पूछे कि–'प्रभो ! आप मांस भक्षण छोड़ने के लिये कहते हैं, तो उसस मुझे धर्म तो होगा न ? मेरा मोक्ष तो होगा न ? तो उस समय श्रीमुनि को ऐसा ख्याल आजाता है कि यह कोई पात्र जीव है, इसी से ऐसा धर्म की जिज्ञासा का प्रश्न इसे उठा है और यह समझने की जिज्ञासा से खडा है । ऐसी उसकी पात्रता को देखकर उसे रत्नत्रय का उपदेश देते है कि भाई ! हमने तुझे पाप से बचाने के लिये मांस भक्षण छोड़ने को, शुभराग से कल्याण होना, व्यवहार

से कहा था, किन्तु यदि तुझे धर्म समझने की रुचि है तो धर्म का स्वरूप इस राग से भिन्न है। राग से धर्म नहीं है, किन्तु रागरहित आत्मा के चैतन्यस्वभाव को समझने से धर्म है।

नरकादि गतियों से बचने की अपेक्षा से शुभराग द्वारा कल्याण कह दिया, किन्तु वास्तविक कल्याण (धर्म) तो उससे भिन्न है।—इत्यादि प्रकारों से जिस प्रकार जीव का हित हो उसी रीति से जिनशासन का उपदेश है।

जो सत्शास्त्रों की स्वाध्याय करके राग का पोषण करते हैं वे स्वच्छन्दी हैं।

शास्त्र के कथनों को पढ़कर जो जीव राग-द्वेष मोह को बढ़ाने का आशय निकालते हैं व जीव सत्शास्त्र के आशय को नहीं समझे हैं और वे स्वच्छन्दी हैं। उन जीवों के लिये तो वे सत्शास्त्र हित का निमित्त भी नहीं हैं। शास्त्र में राग द्वेष मोह की वृद्धि करने का आशय है ही नहीं, किन्तु वे जीव अपनी विपरीत श्रद्धा के कारण वैसा समझे हैं, उसमें शास्त्र के कथन का दोष नहीं है किन्तु जीव की समझ का दोष है। जो जो जीव यथार्थ आत्मस्वभाव को समझकर राग-द्वेष-मोह को कम करते हैं उन्हें सत्शास्त्र निमित्तरूप कहे जाते हैं।

शुभराग का क्या प्रयोजन है ?

चारित्रदशा में पंचमहाव्रत का शुभराग होता है—ऐसा

सत्शास्त्र में कहा हो, तथापि वह कथन राग कराने के लिये नहीं है किन्तु स्वरूप की दृष्टि और स्थिरतासहित अशुभराग से बचाने का प्रयोजन है, परन्तु महाव्रत का जो शुभराग रहा वह तो छोड़ने के लिये ही है। धर्म तो मात्र निश्चयमार्गरूप ही है। शुभराग के द्वारा धर्म नहीं होता, धर्म तो पुण्य-पाप से रहित मात्र शुद्धस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और रमणतारूप ही है।

सत्शास्त्र में शृंगार-रस, युद्ध, भोग इत्यादि के वर्णन का प्रयोजन

सत्शास्त्रों में शृंगार रस, भोग, युद्ध इत्यादि का वर्णन आये वहाँ भी उसका प्रयोजन जीव को पुण्य पाप के फल की श्रद्धा पैदा कराना और उसके प्रति वैराग्य कराने का ही है। जैन शास्त्रों का सम्पूर्ण प्रयोजन तो जीव को पूर्ण वीतरागता कराने का ही है, किन्तु जो जीव पूर्ण वीतरागता का पुरुषार्थ न कर सके उनको भी जैनशास्त्र किसी प्रकार से अतत्व श्रद्धान मन्द कराते हैं, तीव्र अशुभ भावों को छुड़ाते हैं और तीव्र मिथ्यात्व को कम कराते हैं। अन्य मत के शास्त्रों में किसी प्रसंग पर यदि राग को कम करने के लिये कहा हो तो दूसरी जगह राग से धर्म मनवाकर राग करने का उपदेश होता है। इस प्रकार वे शास्त्र अतत्वश्रद्धान और मिथ्यात्व के पोषक हैं, इससे वे असत्शास्त्र पठन श्रवण करने योग्य नहीं हैं।

सत्‌शास्त्र स्वाधीनता को बतलाकर वीतरागता की पुष्टि करते हैं।

जो शास्त्र ऐसा बतलाते हैं कि देव, गुरु, शास्त्र के अवलम्बन से और उनके प्रति राग से धर्म होगा, उन्ही की जीवों को शरण है, वे शास्त्र जीव को पराधीनता बतलाकर राग का ही पोषण करानेवाले हैं, वे सत्‌शास्त्र नही हैं। सत्‌शास्त्र तो ऐसा बतलाते हैं कि देव–गुरु–शास्त्र का अवलम्बन भी आत्मा के धर्म के लिये नही है, उसका भी लक्ष्य छोड़कर अपने स्वभाव का लक्ष्य कर।—ऐसी स्वाधीनता और वीतरागता दर्शाते हैं।

यदि शास्त्रों में युद्ध आदि का वर्णन हो तो वह विकथा नहीं, किन्तु वैराग्य पोषक कथा है।

तीर्थंकर भगवान के पास इन्द्र नृत्य करते हैं, वहाँ शृंगारभाव की पुष्टि का हेतु नही है, किन्तु अपना अशुभ राग छोड़कर वीतराग जिनदेव के प्रति भक्ति का, और लोगो को भी भक्ति प्रेम कराने का तात्पर्य है, इसप्रकार उसमें भी जीव कुमार्ग से बचकर सत्‌धर्म की ओर उन्मुख हो—ऐसा हेतु है। इसलिये यदि सत्‌शास्त्र में नृत्यादि का वर्णन आये तो वह विकथा नहीं है। शास्त्र में विकथा के चार प्रकार कहे हैं, उनमें जो शब्द हैं वह विकथा नही है। स्त्रियों के अंगोपांग इत्यादि का एवं युद्ध आदि का वर्णन तो निर्ग्रन्थ मुनिराज भी करते हैं, मात्र उनका वर्णन करना

होती है। जनधर्म में भगवान को प्रसन्न करने के हेतु से फल पुष्प आदि नहीं चढाये जाते और भगवान की प्रतिमा पर तो कुछ भी नहीं चढाया जाता, किन्तु स्वयं वीतराग होने की भावना से भगवान की पूजा की जाती है। आत्मा की पहिचान होने से पूर्व जिनपूजा-इत्यादि शुभराग करके अशुभराग को दूर करे-इसका कोई निषेध नहीं है। भगवान एक आत्मा थे और मैं भी एक आत्मा हूँ, जैसा परिपूर्ण स्वरूप भगवान का है वैसा ही मेरा भी है—ऐसा परिपूर्ण स्वभाव का भान होने के पश्चात् भी स्वयं साक्षात् वीतराग नहीं हुआ है और वर्तमान में साक्षात् वीतरागदेव निमित्तरूप से उपस्थित नहीं हैं, इससे वीतराग-मुद्रित प्रतिमा में वीतरागदेव की स्थापना करके और उसकी पूजा करके वर्तमान में अपने अशुभराग को दूर करता है और शुभराग को भी दूर करके वीतराग होने की भावना करता है। इस प्रकार जनशास्त्र में वीतरागता का ही उपदेश है, और किसी स्थान पर अशुभराग को दूर करने के लिये शुभ का अवलम्बन भी बतलाया है, किन्तु वह शुभराग करने के लिये नहीं है, मात्र वह अशुभराग को दूर करने के लिये है। सत्शास्त्रों का मूल अभिप्राय जीवों को मोक्षमार्ग में प्रवृत्त करने का ही है।

इसप्रकार सत्शास्त्र कैसे होते हैं—उनका स्वरूप कहा।

(६) वक्ता का स्वरूप

कैसे वक्ता का उपदेश श्रवण करने योग्य है ?

जिसमें लाखों-करोड़ों का लेन देन होता हो—ऐसी दुकान

का काय दस रुपये मासिक वाला मन्दबुद्धि पुरुष नहीं सभाल सकता, किन्तु कोई अधिक वेतन वाला बुद्धिशाला पुरुष ही उस काय को सभालता है। वस ही जिनके पूर्ण परमात्म स्वानन्द स्वरूप लक्ष्मी प्रगट हुई है—ऐसे श्री वीतरागदेव की परम्परा में रहकर सम्यग्दशन, ज्ञान, चारित्ररूप वीतरागधर्म का उपदेश करने वाला जीव श्रद्धा-ज्ञानादि अनेक गुणों का धारी होना चाहिये और अध्यात्म विद्या में पारगत होना चाहिये। जिन्हे अध्यात्मरस द्वारा अपने स्वरूप का अनुभव न हुआ हो वे जीव वीतरागी जिनधर्म का यथाथ उपदेश नहीं दे सकते और ऐसे वक्ता के निकट शास्त्र-श्रवण करने से जीव को आत्मलाभ नहीं होता। इसलिये यथार्थ आत्मज्ञानी पुरुष को पहिचानकर उनके निकट आत्मस्वभाव का उपदेश सुनना योग्य है।

वक्ता को सवप्रथम तो जैनश्रद्धान में दृढ़ होना चाहिये। राग द्वेषरूप दोष मेरी अवस्था में क्षणिक हैं और उन्हे जीतने वाला मेरा स्वभाव त्रकालिक शुद्ध है—ऐसी श्रद्धा हो उसका नाम जैनश्रद्धा है। जो अपने शुद्धस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता के द्वारा राग-द्वेष मोह को जीत लेता है उसके जैनत्व प्रगट होता है। जिसे अपने शुद्धात्मस्वभाव की प्रतीति न हो वह अन्य जीवों को शुद्धात्मस्वभाव का उपदेश किस प्रकार दे सकता है?

जैन कौन है?

जन अर्थात् जीतने वाला। किसे जीतना है, कौन जीतने

वाला कौन है वह जानना चाहिये। आत्मा परद्रव्यो से तो भिन्न है किन्तु एक आत्मा मे दो पक्ष हैं—एक तो त्रकालिक स्वभाव, और दूसरी वतमान अवस्था। उसमे जो त्रकालिक स्वभाव है वह तो शुद्ध ही है, उसमे कुछ नही जीतना है, किन्तु वतमान अवस्था मे जो दोष है उसे जीतना है। किन्ही परपदार्थों को नही जीतना है—जीत ही नही सकता, और किन्ही परपदार्थों की सहायता से भी नही जीतना है—जीत भी नही सकता, किन्तु अपनी वतमान पर्याय परलक्ष से होने के कारण दोषयुक्त है, उस पर्याय का स्वभावो मुख करके दोष को जीतना है, और वह अपने से ही सकता है। अपने त्रैकालिक स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा ज्ञानपूवक स्व-स्वरूप में स्थिरता करके अवस्था के दोष को जीतना है। इसप्रकार जीतने वाला आत्मा और जीतना भी अपने मे ही है। इसप्रकार दोनो पक्षो को अपने मे जानकर त्रकालिक स्वभाव की रुचि के पुरुषार्थ से जो वतमान पर्याय के दोष को जीते वह जन है। इसप्रकार जनधम किसी घेरे में, सप्रदाय में, वेष में या शरीर की क्रिया मे नहीं है किन्तु आत्मस्वरूप की पहिचान मे ही जनधम है—जनत्व है। मैं अपने त्रकालिक स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता द्वारा वतमान क्षणिक पर्याय के दोषो का जीतनेवाला हूँ—ऐसा जो जीव अभ्यन्तर माग में श्रद्धालु है—वही वीतरागधम का उपदेश दे सकता है।

मैं अपने स्वभाव से परिपूण हूँ मेरे गुण परिपूण ही हैं, गुण कही कम नहीं होगये हैं, और पर्याय में मेरे दोष

से विकार है किन्तु मेरे गुणस्वभाव में वह विकार नही है। विकारो को दूर करके निर्मल पर्याय बाहर से नही लाना है, किन्तु मेरे परिपूर्ण गुण वर्तमान हैं उनमें एकाग्रता करने से पर्याय का विकास होकर निर्मलता प्रगट होती है। किसी अन्य के कारण से विकार नही हुआ है और न दूसर के अवलम्बन से वह दूर ही होता है। ऐसी अपने परिपूर्ण गुणों की प्रतीति द्वारा पर्याय के अवगुण को जानकर जो उस दूर करता है वह जैन है। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन प्रगट होने से यथार्थ जैनत्व प्रारम्भ होता है, अथवा जो जीव सम्यग्दर्शन के सन्मुख हो उसे भी जैन कहा जाता है। और तेरहवें गुणस्थान में जो जिनदशा प्रगट होती है वह सम्पूर्ण जैनत्व है, उसके राग-द्वेष का जीतना शेष नहीं रहा। जैनधर्म वस्तु का स्वरूप है, जगत के जड चेतन पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बतलाने वाला जो जैनदर्शन है—वही विश्वदर्शन है। जिसे सम्पूर्ण राग द्वेष को जीतने वाले अपने वीतरागस्वरूप का भान है, किन्तु अभी पूर्ण राग द्वेष को जीता नही है वह छद्मस्थ जैन है और वीतरागस्वरूप के भानपूर्वक जिसने सम्पूर्ण राग-द्वेष को जीता है वह पूर्ण जैन है। ऐसे ही पुरुष जैनदर्शन के रहस्य के वक्ता हो सकते हैं।

लाभ—हानि

प्रश्न —आत्मा को लाभ हानि का कारण कौन है ?

उत्तर —लाभ का कारण है आत्मद्रव्य के ओर की उन्मुखता, और हानि का कारण है परलक्ष से होनेवाला

क्षणिक पर्याय में विकार। स्वय आत्मद्रव्य हानि का कारण नहीं है। जो पर्याय सम्पूर्ण द्रव्य को कारणरूप से अगीकार करती है (अर्थात् स्वलक्ष में एकाग्र होती है) उस पर्याय में लाभ प्रगट होता है। किन्तु यदि क्षणिक पर्याय के लक्ष में रुक जाय तो पर्याय में लाभ प्रगट नहीं होता। पर वस्तु तो कहीं आत्मा का लाभ हानि का कारण है नहीं, लाभ या हानि तो अवस्था में होते हैं, इससे वास्तव में तो जिस जिस पर्याय में लाभ हानि होते हैं उसका कारण वह अवस्था स्वय ही है, अवस्था स्वय अपनी योग्यता से शुद्धता अथवा अशुद्धतारूप परिणमित होती है। त्रकालिक स्वभाव की श्रद्धा–ज्ञान–स्थिरतारूप परिणमन वह लाभ है, और परवस्तु से मुझे लाभ हानि होते हैं—ऐसी मान्यता वह महान हानि है। किन्तु परवस्तु कहीं लाभ या हानि नहीं करती।

वक्ता के कारण श्रोता को, अथवा श्रोता के कारण वक्ता को लाभ हानि नहीं होते।

प्रश्न —यदि वक्ता सच्चा हो तो सुननेवालों को लाभ होता है और वक्ता मिथ्या हो तो हानि होती है, तब फिर परपदार्थों से लाभ–हानि नहीं होते—ऐसा क्यों कहते हैं?

उत्तर —श्रोताओं को वक्ता के कारण लाभ–हानि नहीं होते, किन्तु अपने भाव के कारण ही होते हैं। श्रोताओं का ज्ञान अपने पास है और वक्ता का ज्ञान उसके पास है, दोनों स्वतन्त्र हैं। सुननेवालों लाखों मनुष्य धर्म प्राप्त करलें

तो उसका वक्ता को किंचित् लाभ नहीं है, किन्तु वक्ता स्वयं अपने सम्यक्भाव का जो अंतरंग मथन करता है उसीका लाभ है। उसी प्रकार तत्व की विपरीत प्ररूपणा करनेवाले के सन्मुख यदि लाखों मनुष्य उल्टा समझें तो उसको किंचित् मात्र हानि नहीं है, किन्तु वह स्वयं अपने में विपरीत मान्यता का जो मथन कर रहा है—वही उस अनन्त संसार का कारण है जो यथार्थ समझे उसको लाभ समझनेवाले का है और यदि विपरीत समझे तो उसको हानि भी समझनेवाले को स्वयं है। सुननेवाले सच्चा समझें या विपरीत समझें—उसका लाभ-हानि वक्ता को नहीं है और वक्ता के भावों का लाभ हानि श्रोताओं को नहीं है। किन्तु ऐसा नियम अवश्य है कि—जिज्ञासु जीव को सत्य आत्मस्वभाव समझने की तत्परता के समय आत्मज्ञानी वक्ताओं का ही निमित्त होता है किन्तु अज्ञानी वक्ता का निमित्त नहीं होता।

वक्ता के मूल लक्षण

यथार्थ श्रद्धा और यथार्थ ज्ञान—यह वक्ता के मूल लक्षण हैं। यथार्थ श्रद्धा ही आत्मा के सब धर्मों का स्तम्भ है। जिसे आत्मज्ञान हो उसका समस्त ज्ञान सम्यक् है और जिसे आत्मज्ञान न हो उसका समस्त ज्ञान मिथ्या है। अज्ञानी के सत्शास्त्र की जानकारी, श्रवण-मनन—सब मिथ्या ज्ञान हैं। और ज्ञानी के युद्ध का ज्ञान, शस्त्रों आदि संबंधी ज्ञान—वह सब सम्यक् ज्ञान है। यथार्थ श्रद्धायुक्त सम्यग्ज्ञानी वक्ता यदि त्यागी न हो, तो भी उसकी प्ररूपणा यथार्थ है, किन्तु अज्ञानी

जो प्ररूपणा करता है वह यथार्थ नहीं होती। इसलिये वक्ता को प्रथम तो जैनश्रद्धान में दृढ होना चाहिये।

आत्मा तो वाणी का कर्ता नहीं है, तब फिर 'वक्ता को जैनश्रद्धान में दृढ होना चाहिये'—ऐसा क्यों कहा ?

प्रश्न—यहाँ पर वक्ता का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि वक्ता को जैनश्रद्धान में दृढ होना चाहिये। किन्तु जो शब्द बोले जाते हैं उनका कर्त्ता तो आत्मा नहीं है जैसी भाषावर्गणा लेकर आया होगा वैसे ही शब्द परिणमित होंगे। तब फिर वक्ता जैनश्रद्धान में दृढ होना चाहिये—ऐसा कहने का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—ज्ञानी और अज्ञानी—दोनों की वाणी के शब्द तो जड के कारण से ही परिणमित होते हैं, किन्तु ज्ञान का और वाणी के परिणमन का—निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब-तक जीव को सम्यग्ज्ञान न हुआ हो तबतक तो उसे पूर्व के विकास (क्षयोपशम) अनुसार ज्ञान है, और वाणी अपने कारण से निकलने योग्य हो उस समय उस ज्ञान के अनुसार वाणी के शब्द स्वयं ही होते हैं, यानी जिसकी वाणी में मिथ्याज्ञान निमित्तरूप हो वह जीव यथार्थ वक्ता नहीं हो सकता, और जिस जीव के सम्यक्ज्ञान प्रगट हुआ है उसका समस्त ज्ञान वर्तमान पुरुषार्थ से है, पूर्व का विकास भी उसके वर्तमान पुरुषार्थ में एकमेक हो गया है, और वाणी के शब्द उसके सम्यग्ज्ञान के अनुसार हैं। जिसकी वाणी में

सम्यक्ज्ञान निमित्तरूप हो वही यथार्थ वक्ता हो सकता है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों की वाणी के शब्द तो जड़ के कारण से ही परिणमित होते हैं, किन्तु जब वाणी परिणमित होती है तब ज्ञान का और वाणी के परिणमन का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जिस वाणी में सम्यग्ज्ञान का निमित्त हो वही वाणी अन्य जीवों को प्रथम सम्यक्ज्ञान प्रगट करने में निमित्त रूप हो सकती है। किन्तु जिस वाणी में मिथ्या ज्ञान का निमित्त हो वह वाणी अन्य जीवों को प्रथम सम्यक्ज्ञान प्रगट करने का निमित्त नहीं होती।

(८) पूर्व का विकास और वर्तमान पुरुषार्थ सम्बन्धी स्पष्टीकरण।

प्रश्न—शास्त्र के शब्दों का जो ज्ञान होता है उसका कारण तो पूर्वपुण्य है न? अर्थात् ज्ञान का और शास्त्र का संयोग तो पूर्वपुण्य के अनुसार है न?

उत्तर—यह प्रश्न उल्टा है। पूर्व कर्मों को देखना है कि वर्तमान के ज्ञान का पुरुषार्थ देखना है? शास्त्र के शब्दों का संयोग नहीं देखना है, किन्तु ज्ञान में वर्तमान कैसा पुरुषार्थ है यह देखना है।

यथार्थ दृष्टि से रहित, मात्र परलक्ष से ज्ञान का जो विकास है वह पूर्वोदय है, और वर्तमान मन्दकषाय से नया विकास हुआ हो, तो वह भी परलक्षी होता है, और जहाँ दृष्टि परिवर्तित हुई, तथा स्वाश्रय से सम्यग्ज्ञान

प्रगट हुआ वहाँ सम्पूर्ण ज्ञान वर्तमान पुरुषार्थ से हुआ है। पूर्व का विकास था वह अब नवीन पुरुषार्थ में एकमेक होकर सम्यग्ज्ञानरूप हो गया है। जहाँ स्वभावदृष्टि हुई वहाँ पर के ऊपर से, निमित्त अथवा पुण्य पर से दृष्टि हट गई और स्वभाव की ओर दृष्टि होने से पुरुषार्थ की उन्मुखता बदली इससे वर्तमान अपूर्व सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ। वहाँ वाणी का योग भी सम्यक् ही होता है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। किसी सम्यग्ज्ञानी को वाणी का योग न हो, ऐसा हो सकता है, किन्तु यदि उस वाणी का योग हो तो वह सम्यक् वाणी ही होती है।

स्वभावोन्मुख होना ज्ञान का प्रयोजन है।

शास्त्र के संयोग या वाणी के शब्द इत्यादि पर-सन्मुख देखने का प्रयोजन नहीं है, अपनी अवस्था को देखने का भी प्रयोजन नहीं है, किन्तु पर्याय त्रैकालिक स्वभाव की ओर उन्मुख हो और द्रव्य पर्याय एकाकार हो—यही प्रयोजन है। यह प्रयोजन समझे बिना जीव का पुरुषार्थ यथार्थ नहीं है, जिसने स्वभाव की दृष्टि की है वह पर निमित्तों को तो मात्र ज्ञेयरूप ही जानता है, और पूर्ण स्वभाव की दृष्टि से उसका पुरुषार्थ है, अर्थात् उसे पूर्ण स्वभाव की दृष्टि, वर्तमान अवस्था का विकास और निमित्तों का ज्ञान—यह तीनों यथार्थ हुए।

शब्दों का या पूर्व के विकास का यहाँ प्रयोजन नहीं है, ने का लक्ष उनके ऊपर नहीं होता किन्तु स्वभाव

पर होता है। समझनेवाला अपने वर्तमान पुरुषार्थ को देखता है, और यानी का लक्ष पर के ऊपर होता है, तथा वह निमित्त के संयोग को देखता है। वर्तमान में पुरुषार्थ किस ओर कार्य करता है—वह देखना है।

रागी कैसी निकल रहा है—उसका काम नहीं, और आत्मा में से जो अवस्था प्रगट होती है वह कभी प्रगट होती है—उसके लक्ष का भी काम नहीं है, परन्तु अवस्था में पिण्डरूप वस्तु कैसे स्वभाववाली है—उसका लक्ष करने का प्रयोजन है। उस वस्तुस्वभाव को देखने वाले की अल्पकाल में ही मुक्ति है। वह वस्तु को मुक्त स्वरूप ही जानता है।

शास्त्र ऐसा बतलाते हैं कि आत्मा और परमाणु भिन्न हैं। इसे जानने का हेतु यह नहीं है कि परमाणुओं की कैसी अवस्था होनी है, किन्तु अपना आत्मतत्त्व किस स्वरूप से पर से मुक्त है—वह समझकर स्वभाव की ओर लक्ष करने का प्रयोजन है। आत्मस्वभाव की दृष्टि ही मुक्ति का कारण है।

संसार सम्बन्धी कार्यों में जितना ज्ञान का विकास है वह सब पूर्व का विकास है और वर्तमान राग से वह उपयोगरूप होता दिखाई देता है, अशुभभाव करते हुए भी उस समय लौकिक विकास होता दिखाई देता है। वहाँ जो पूर्व का विकास है वह प्रगट दिखाई देता है, किन्तु वर्तमान अशुभ भावों के कारण वह विकास नहीं हुआ है। और देव-गुरु शास्त्र इत्यादि परलक्ष से कषाय की मन्दता के कारण ज्ञान का विकास वर्तमान में नवीन भी होता है, किन्तु यदि उसके

द्वारा स्वभाव की ओर उ मुख होने का प्रयोजन सिद्ध न करे तो अज्ञानी के उस पुरुषार्थ को परमार्थ से पुरुषार्थ नहीं कहा जाता। और जिस जीव ने अपने वर्तमान पुरुषार्थ के द्वारा पूर्वोदय का स्वभावोन्मुख किया है। उस जीव को वर्तमान पुरुषार्थ ही है। उसके पूर्व का विकास वर्तमान पुरुषार्थ मे एकमेक हो गया है। स्वभाव की ओर का विकास होने से वर्तमान वस्तुदृष्टि हुई और उससे पूर्व का समस्त ज्ञान वर्तमान पुरुषार्थ के कारण सम्यक्ज्ञान में मिल गया। जहाँ अशुभ राग का आश्रय है वहाँ पूर्व का विकास कार्य करता है, क्योंकि अशुभ राग के आश्रय से ज्ञान का विकास कैसे हो ? अशुभ राग के फल में परलक्षी ज्ञान का भी विकास नहीं होता, इससे संसार के ओर की जितनी बुद्धि है वह वर्तमानभाव का फल नहीं है। आत्मा के धर्म के लिये पूर्व का परलक्षी विकास काम नहीं आता, उसमें तो वर्तमान अपूर्व पुरुषार्थ की आवश्यकता है। अपने स्वभाव की ओर उन्मुख होकर आत्मदृष्टि की उसमें वर्तमान का ही पुरुषार्थ है। आत्मा की ओर देखते हुए त्रैकालिक स्वभाव का आश्रय करके वर्तमान विकास होता है सम्यग्दृष्टि के सम्पूर्ण विकास वर्तमान पुरुषार्थ से है, उसके जो पूर्व का विकास हो वह स्वभावोन्मुख होने से वर्तमान पुरुषार्थ के साथ एकमेक हो जाता है।

शुभभाव से तो वर्तमान में पर की ओर का नवीन विकास होता है, किन्तु किसी जीव के वर्तमान में अशुभभाव प्रवर्तमान

होने पर भी ज्ञान का विकास रुकता हुआ दिखाई देता है, वहाँ अशुभभावों के कारण वह विकास नहीं हुआ, किन्तु उन अशुभभावों के कारण पूर्व का जो अधिक विकास था वह भी उल्टा कम हो गया है।

पुरुषार्थ और प्रकृति के बीच एक महान भेद है। अज्ञानी जन प्रकृति को देखते हैं और ज्ञानी पुरुषार्थ को देखते हैं आत्मा की पहिचान वर्तमान पुरुषार्थ से ही है। और आत्मा की पहिचान के बिना पर का जानने का जो विकास है वह वास्तव में प्रकृति का कार्य है। ज्ञान के विकास के साथ धर्म का सम्बन्ध नहीं है किन्तु वर्तमान में ज्ञान का झुकाव किस ओर है—उसके साथ धर्म का सम्बन्ध है।

वर्तमान मन्दकषाय के पुरुषार्थ से भी ज्ञान का नवीन विकास होता है। निगोद से निकलकर मनुष्य होनेवाला जीव ग्यारह अंग का ज्ञान करता है उस जीव के ग्यारह अंग का विकास पूर्व का नहीं है, परन्तु वर्तमान में कषाय की मन्दता करके नवीन विकास करता है। इस प्रकार वर्तमान पुरुषार्थ से विकास हो सकता है तथापि मिथ्यादृष्टि जीव के ज्ञान का विकास आत्मा का कोई भी प्रयोजनभूत कार्य नहीं कर सकता, इसलिये परमार्थ में उसके पुरुषार्थ को यथार्थ पुरुषार्थ नहीं माना गया, उसके ज्ञान में आराधकभाव नहीं है। यद्यपि उसने मन्दकषाय के पुरुषार्थ से वर्तमान में परलक्षी ज्ञान का विकास किया है, परन्तु आराधकभाव का अभाव होने से उसका पुरुषार्थ आत्मा से अभेदत्व नहीं रखता इसलिये उसके

पुरुषार्थ को परमार्थ से पुरुषार्थ नहीं माना गया। यदि वर्तमान में अपूर्व पुरुषार्थ द्वारा ज्ञान को स्व की ओर उन्मुख करके आत्मा में अभेद करे तो उसके आराधकभाव हो। आराधकभावयुक्त जो ज्ञानी का पुरुषार्थ है वह आत्मा के साथ अभेदत्व रखता है, इसलिये उसके जितना ज्ञान का विकास है वह वर्तमान पुरुषार्थ में एकमेक हो जाता है। आराधकभाव सहित ज्ञान का जो अंश है उसका आत्मा के साथ अभेदत्व होने से वह बढ़कर पूर्ण हो जायगा, और आराधकभाव से रहित जो ज्ञान है उसका आत्मा के साथ अभेदत्व न होने से विराधकता के कारण वह अत्यन्त हीन हो जायगा। वर्तमान अपूर्व पुरुषार्थ करके ज्ञान को स्वसन्मुख करना ही प्रयोजन है।

(९) निरपेक्ष परिणति

त्रैकालिक स्वभाव की ओर का बल वर्तमान पर्याय के विकार को अशक्त कर देता है। स्वभाव के लक्ष से पर्याय का परिणमन अंतरंगस्वभाव की ओर उन्मुख हुआ सो हुआ, अब स्वभाव के साथ एकाकार हुई उस पर्याय को बदलने के लिये लाखों संयोग निमित्तरूप से भी समर्थ नहीं हैं। जो पर्याय स्वभावोन्मुख हुई उसे पर पदार्थों के साथ क्या सम्बन्ध? स्वभाव की परिणति को किसी संयोग की अपेक्षा नहीं है, वह सबसे निरपेक्ष है।

(१०) सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञान की प्रवृत्ति कैसी होती है?

सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् पर्याय का बल द्रव्य के

ऊपर स्थिर रखकर ज्ञान स्व पर को यथावत् जानता है। स्व के साथ पर का ज्ञान करना सो ज्ञान का यथार्थ व्यवसाय है।

स्वभावोन्मुख ज्ञान जब पर को जानता है, उस समय भी स्वभाव के साथ अभेदत्व रखकर जानता है इससे वह सम्यग्ज्ञान है, वह ज्ञान पर को जानते समय भी स्वभाव की एकता से विमुख होकर नहीं जानता और अज्ञानी जीव स्वभाव की एकता से विचलित होकर मात्र पर को जानता है इससे वह पर में एकत्व मानता है, वह मिथ्याज्ञानी है। ज्ञानी स्वभाव के निर्णय से पर का ज्ञान करते हैं वहाँ बल तो वर्तमान पुरुषार्थ से द्रव्य के ऊपर है यानी उन्हें पूर्व का दमना नहीं रहा। वर्तमान में पर के ऊपर दृष्टि नहीं है, किन्तु ज्ञान को स्वसन्मुख करके द्रव्य पर ही दृष्टि का बल प्रवर्तमान है—यही प्रयोजन है।

(११) सुख का यथार्थ कारण

(१) किसी जीव को एक कार्य करने का शुभभाव हुआ, (२) और उसके भावानुसार बाह्य का कार्य हुआ, (३) और जीव को सतोषभाव हुआ। इसमें शुभभाव, बाह्य का कार्य और सतोषभाव—यह तीनों स्वतन्त्र हैं। शुभभाव हुआ, उसके कारण बाह्य का कार्य नहीं हुआ, और बाह्य का कार्य हुआ उसके कारण सतोष नहीं हुआ, और जो शुभराग हुआ उसके कारण भी सतोष नहीं हुआ। प्रथम जो कार्य करने की आकुलतारूप भाव था वह भाव हट जाने से स्वयं को सतोष हुआ मानता है। बाह्य का जो कार्य हुआ वह

तो परद्रव्य के कारण से स्वय हुआ है। अर्थात् वास्तव में बाह्य का कोई भी काय जीव को सताप का कारण नही है। जीव के अपने स्वभाव की दृष्टि न होने से, एक आकुलता भाव मे हटकर उसी समय दूसरा शुभ या अशुभभाव करके वह आकुलता का ही वदन किया करता है, इससे सच्चा अनाकुल सतोप उसके अनुभव म नही आता। शुभाशुभ-दोनों भाव आकुलतारूप होने से दुख के कारण ह, और उन शुभाशुभ भावो के हट जाने स उनसे रहित जो स्वभाव है, वही अनाकुलतास्वरूप होने के कारण उसके लक्ष से अनाकुल सतोप का वेदन होता है। जिसे अपने अनाकुल स्वभाव का लक्ष नही है वह जीव एक आकुलताभाव को बदलकर तत्क्षण परलक्ष से नवीन आकुलताभाव करता है, और दुख म ही अनुभव करता है। कदाचित् मन्द आकुलता हो तो उसम वह सुख की कल्पना करता है किन्तु वास्तव में वह दुख ही है। अपने स्वभाव का लक्ष करके यदि शुभाशुभ भावो से लक्ष-श्रद्धा से विचलित हो जाय तो उसे स्वभाव की प्रतीति और सम्यग्ज्ञान हो और स्वभाव के अनाकुल सुख का अशत वेदन हो, तब वह अनाकुलता और आकुलता के बीच जो भेद ह उसे जाने और मन्द आकुलता (शुभभाव) मे भी वह सुख न माने।

प्रारम्भ मे जो तीन प्रकार बतलाये हैं उनमे (१) जो शुभभाव है वह विकार है और उसका वेदन दुखरूप है (२) जो बाह्य का काय है उसके साथ जीव का सम्बन्ध

नहीं है और उसका वेदन भी जीव के नहीं है। (3) जो मनोभाव है वह यदि परलक्ष से हो तो मंद आकुलता है और वास्तव में वह दुःख है, तथा आत्मस्वभाव के लक्ष से मनोभाव हो तो वह अनाकुलभाव है और वही सच्चा सुख है। इसलिये आत्मस्वभाव की पहिचान ही सुख का उपाय है।

(12) ज्ञानीजन पूर्ण स्वभाव को बतलाते हैं

हे आत्मा! तू अपने स्वभाव से परिपूर्ण है। जो भी वस्तु हो वह अपने स्वभाव से स्वाधीन और परिपूर्ण ही होती है, किन्तु पराधीन या अपूर्ण नहीं होती। किन्तु स्वयं अपने स्वतंत्रस्वभाव को भूलकर मेरे सुख के लिये मुझे पर पदार्थों की आवश्यकता है—ऐसी मिथ्या-कल्पना करके अवस्था में पराधीन हुआ है और यह पराधीनता ही दुःख है। मैं आत्मा हूँ, परपदार्थों से भिन्न हूँ, परपदार्थों की मुझमें नास्ति है, पर के आधीन मेरा सुख नहीं है मैं स्वाधीन पूर्ण निर्विकार हूँ—ऐसी स्वभाव की श्रद्धा करने से स्वाधीन निर्मल दशा प्रगट होती है—वही सुख है।

वस्तु के द्रव्य–गुण–पर्याय तीनों स्वाधीन, हैं उनमें द्रव्य गुण तो निरंतर एकरूप परिपूर्ण हैं, और पर्याय में जो अपूर्णता है वह स्वयं ही की है, किसी अन्य ने नहीं कराई है। इस प्रकार यदि द्रव्य गुण पर्याय के स्वाधीन स्वरूप का यथार्थ ज्ञान तो अपने परिपूर्ण स्वाधीनस्वभाव की एकाग्रता द्वारा पर्याय की अपूर्णता को दूर करके पूर्ण दशा प्रगट करे।

पर्याय म विकार होन पर भी यदि विकाररहित पूर्ण स्वभाव का विश्वास और महिमा लाकर उसकी श्रद्धा–ज्ञान करे तो पूण स्वभाव के अवलम्बन से पर्याय की पूणता प्रगट करे—इसी का नाम मोक्ष है। किन्तु जो अपने पूण स्वभाव का विश्वास और महिमा न करे तथा विकार एक पर की महिमा में ही रुक जाय वह कभी भी विकार का नाश करके पूण होने का पुरुषार्थ प्रगट नही कर सकेगा।

पर्याय में परिपूण ज्ञानशक्ति का अविश्वास सो ससार, पर्याय म परिपूण ज्ञानशक्ति की श्रद्धा सो साधकदशा अर्थात् मोक्षमार्ग, और पर्याय में परिपूण ज्ञानशक्ति का प्राकट्य सो मोक्ष।

अपनी स्वभावशक्ति को भूलकर जीव अनादि काल से ससार में परिभ्रमण कर रहा है। एक क्षणमात्र भी यदि अपने स्वभाव का पहिचाने तो अल्पकाल मे ससार का अन्त आये बिना न रहे। इसलिये हे जीव! तेरी पर्याय म विकार और अपूणता होने पर भी तेरा स्वभाव तो इस समय भी विकाररहित परिपूण है उसे तू मान और पहिचान ले। पर्यायदृष्टि से अपने आत्मा को अनादि काल से विकारी मान रहा है, इससे विकारभावो का वेदन करके ससार में दुःखी हो रहा है। अब वह पर्यायदृष्टि छोडकर एक बार स्वाभावदृष्टि से देख तो तुझे अपने पूण विकाररहित स्वभाव का अनुभव हो और तेरे ससार दुःख का अन्त आजाये।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयप्राभृत म आत्मस्वरूप

की पूर्णता दशा कर अनादि की पर्यायदृष्टि को छुड़ाते हैं। गाथा ७७ में कहा है कि —

'हूँ एक शुद्ध ममत्वहीन हूँ ज्ञान दर्शन पूर्ण हूँ,
एमां रही स्थित लीन एमां शीघ्र आ सौ क्षय करूं।"

आत्मा का स्वभाव ज्ञान-दर्शन से पूर्ण शुद्ध है, अपने स्वभाव को भूलकर पर्याय में विकार करे तो उस समय भी स्वभाव में से कुछ घट नहीं जाता, और स्वभाव का भान करके शुद्ध पर्याय प्रगट करे तो उस समय भी स्वभाव में कुछ वृद्धि नहीं हो जाती। स्वभाव तो निरंतर परिपूर्ण ज्यों का त्यों ही है। इसलिये पर्याय में विकार हो उसका लक्ष्य छोड़कर पूर्ण स्वभाव को प्रतीति में लेना ही पूर्णता प्रगट होने का कारण है।

प्रश्न—अपूर्णता और विकार तो वर्तमान पर्याय में दिखाई देते हैं, इसलिये उन्हें मान सकते हैं किन्तु पूर्ण स्वभाव तो वर्तमान में दिखाई नहीं देता, फिर उसे कैसे माना जाय?

उत्तर—जो वस्तु हो वह अपने स्वभाव से अपूर्ण अथवा विकारी नहीं हो सकती। वस्तु सत्‌रूप है कि असत्‌रूप? वस्तु सत्‌रूप है और सत् स्वतः से परिपूर्ण है, वस्तु अनुभव में आने योग्य स्वभाव वाली है इसलिये अवश्य चेतन वस्तु का अनुभव हो सकता है।

अनादि से पर्यायदृष्टि से देखा है इसलिये

भासित होता है, पर्यायदृष्टि द्वारा पूर्णस्वभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि पर्यायदृष्टि छोड़कर स्वभावदृष्टि से (द्रव्यदृष्टि से) देखे तो अपना स्वभाव प्रतिसमय पूर्ण है—ऐसा दिखाई देता है, उस स्वभाव में विकार का प्रवेश नहीं है।

हे भाई! तू अन्तरंग से विचार कर कि पर्याय में जो ज्ञानादि का अंश है वह कहाँ से आता है? तेरी पर्याय किसी भी समय, कहीं जड़रूप नहीं हो जाती, अंशतः ज्ञान तो प्रगट रहता है, तो वह ज्ञान कहाँ से आया? जो अंश है वह पूर्ण के बिना नहीं होता। जो अंशतः ज्ञान प्रगट है, वह तेरे पूर्ण ज्ञानस्वभाव का ही परिणमन है। और पहले समय में ज्ञान अल्प होता है तथा दूसरे समय में अधिक होता है, तो वह अधिक ज्ञान कहाँ से आया? पहली पर्याय में तो वह नहीं था इसलिये प्रथम और द्वितीय सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहने वाला तेरा ज्ञानस्वभाव परिपूर्ण है और उसी का परिणमन होकर पर्याय में ज्ञान प्रगट होता है, इससे अपनी अपूर्ण ज्ञानपर्याय को गौण करके अपने लक्ष को स्वभाव की ओर विस्तृत कर तो पूर्णस्वभाव है, वह अनुभव में और प्रतीति में आये। और फिर ज्यों ज्यों सम्यक्ज्ञान में वृद्धि होती है त्यों त्यों राग भी बढ़ता हुआ देखने में नहीं आता किन्तु ज्यों-ज्यों सम्यग्ज्ञान में वृद्धि होती है त्यों त्यों राग कम होता हुआ दिखाई देता है, क्योंकि ज्ञान का स्वभाव राग के अभावरूप है। पर्याय में रागादि विकारभाव होने पर भी वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिये पर्यायरूप अंश

का और विकार का लक्ष छोडकर अभेद, विकाररहित स्वभाव की प्रतीति कर। पर को और विकार को तो अनादि से तू जानता है किन्तु अब सबके ज्ञाता–ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव को जान।

जैसे—स्फटिक मणि मे वर्तमान पर सयोग से रंग की झलक दिखाई देने पर भी उसी समय स्फटिक का स्वभाव निर्मल है–ऐसा ज्ञान के द्वारा जाना जासकता है। वस्त्र वर्तमान मे मलिन होने पर भी उसी समय उसका स्वभाव मलरहित है ऐसा जाना जा सकता है। उसीप्रकार आत्मा मे जो वर्तमान मलिनता है वह उसका मूल स्वभाव नही है, किन्तु उसी समय आत्मा का स्वभाव तो निर्मल ही है–ऐसी श्रद्धा और ज्ञान तो विकार होने पर भी हो सकते हैं।

प्रश्न—जो सम्पूर्ण विकाररहित हो गये हैं, वह तो अपने आत्मा के विकाररहित स्वभाव को जान सकते हैं और मान सकते हैं किन्तु जिनकी पर्याय में विकार प्रवर्तमान है वे अपने आत्मा के स्वभाव को किस प्रकार विकाररहित जान और मान सकते हैं?

उत्तर—जो विकाररहित हुए हैं उन्होंने भी पहले से ही विकाररहित स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान किया था। यदि प्रथम ही विकाररहित स्वभाव न माने तो विकार दूर होता ही नहीं। पर्याय में विकार विद्यमान होने पर भी पूर्ण निर्विकार स्वभाव की श्रद्धा ज्ञान हो सकते हैं। आत्मा मे श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र—यह तीन मुख्य गुण हैं उनमे से श्रद्धा और

चारित्र गुण विकाररूप म परिणमित होते हैं, कि तु नान गुण कभी भी विकाररूप नही होता, उसमें मात्र हीनता होती है। निचलीदशा म अपूर्ण नान होने पर भी वह स्व पर को जान सकता है। जो रागादि विकार होते हैं वह चारित्र का विकारभाव है किन्तु ज्ञान कही रागरूप प्रवतन नही करता। नान तो नानरूप प्रवतन करता हुआ त्रकालिक गुद्ध स्वभाव और विकार दोनों को जानता है। स्वभाव और विकार—दोना का नान होते हुए भी अनानी जीव पयायदृष्टि से विकार का स्वीकार करके स्वभाव का अस्वीकार करता है —उसकी प्रतीति नही करता, अर्थात् वह पर्यायमूढ होरहा है, इससे विकार के समय भी अपना अविकारी स्वभाव है वह उसके अनुभव म नही आता। किन्तु त्रैकालिक गुद्ध स्वभाव और पर्याय का विकार-इन दोना को ज्ञान म जानकर जब जीव त्रकालिक स्वभाव की मुख्यता करता है और पयाय के विकार को गौण करता है तब उसका नान स्वभाव-सन्मुख होता है, और उसे पर्यायमें विकार होने पर भी अविकारी स्वभाव का अनुभव होता है। तथा पूव म अनादिकाल से पर्यायदृष्टि के द्वारा आत्मा का मात्र विकारपर्याय जितना ही श्रद्धान करता था उस श्रद्धा का अभाव होकर उसी समय परिपूण गुद्ध स्वभाव की श्रद्धा हुई—अर्थात् सम्यग्दशन हुआ। सम्यग्ज्ञान म स्वभाव की मुख्यता और विकार की गौणता है तथा सम्यक श्रद्धा म स्वभाव की स्वीकृति और विकार की अस्वीकृति है। इस प्रकार श्रद्धा और नान के स्वम मुख पुरुषाथ द्वारा, पर्याय के

विकार का लक्ष छोड़कर पूर्णस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और अनुभव चाहे जब हो सकता है।

हे भव्य! तेरा परिपूर्ण स्वभाव निरंतर विद्यमान है, उसमें कभी अपूर्णता या विकार नहीं है। अनादि से पर्याय में विकार होने पर भी तेरा स्वभाव ज्यों का त्यों स्थित है इसलिये तू अपने स्वभाव का ज्ञान, उसकी प्रतीति कर और उसीमें एकाग्रता द्वारा स्थित हो यही सुखी होने का उपाय है। इस सुख का अभी क्षण अनुभव होता है।

(१४) केवलज्ञान का अंश

संसार अवस्था में जीव को ज्ञान-दर्शन के अधिकांश अंशों का तो अभाव होता है और कुछ अंशों का सद्भाव होता है। सम्यग्दृष्टि के जो मति-श्रुत ज्ञान प्रगट हैं वे तो केवलज्ञान के अंश हैं ही, किन्तु मिथ्यादृष्टि के जो मति श्रुत ज्ञान प्रगट हैं वे भी केवलज्ञान के ही अंश हैं क्योंकि जो प्रगटरूप ज्ञान है वह तो ज्ञान की ही जाति है इसमें वे ज्ञान के ही अंश हैं। ज्ञानी और अज्ञानी-दोनों का जिस ज्ञान का विकास है वह केवलज्ञान का अंश होने पर भी, अज्ञानी जीव उस ज्ञान को स्वभाव-सन्मुख करके स्वभाव की प्रतीति नहीं करता, इससे उसका ज्ञान अज्ञानरूप है, और ज्ञानी उस ज्ञान को स्व सन्मुख करके स्वभाव की प्रतीति करता है इससे उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

(१५) ज्ञान की स्वाधीनता

जैसे, केवलज्ञान अपने सामान्य ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन

है इससे उसके विपरीत अभिप्राय मे ही क्रोध विद्यमान है, जबतक वह विपरीत अभिप्राय है तबतक उसे क्रोध होता ही रहेगा, क्योकि परवस्तुओ का तो कभी अभाव होना नही है, इसलिये जिसने पर के कारण क्रोधादि होना मान रखा है उसके क्रोधादिभाव कभी नष्ट नही होना है। और परवस्तुएँ अनत होने से उसके अभिप्राय मे क्रोध भी अनतगुना है, और वह अनन्त ससार का कारण है।

ज्ञानियो को जब क्रोध होता है तब वे परवस्तु को क्रोध का कारण नही मानते, इससे परवस्तु की इष्ट-अनिष्ट कल्पना नही करते, किन्तु अपने पुरुषार्थ की अशक्ति से क्रोध हुआ है-ऐसा जानकर उसे दूर करना चाहते है। 'मुझे परवस्तु से क्रोध होता है' ऐसा अभिप्राय न होने से उनके क्रोध की लार नही बढ़ती किंतु पुरुषार्थ के बल से अल्पकाल मे ही उसका नाश कर देते हैं। जो जीव परवस्तु को क्रोध का कारण मानता है उसका अभिप्राय विपरीत होने से परवस्तु की उपस्थिति मे वह क्रोध को दूर नही कर सकेगा परवस्तु की उपस्थिति कभी मिटने वाली नही है, इसलिये अज्ञानी के क्रोधादि भी कभी नष्ट नही होगे। अज्ञान को दूर कर दे तो क्रोधादि नष्ट हो। ज्ञानीजन परवस्तु को क्रोध का कारण नही मानते, इसलिये परवस्तु की उपस्थिति होने पर भी स्वय अपने क्रोध को दूर कर देते हैं। ज्ञानी के अभिप्राय मे परवस्तु मे इष्ट अनिष्टता की मान्यता नहीं है, और अपने पुरुषार्थ के दोष से जो क्रोध होता है, उसे भी करने योग्य नहीं मानते, इससे

उनके अल्प क्रोध होता है और वह अनन्त संसार का कारण नहीं है।

जब क्रोधादि होते हैं उस समय अज्ञानी पर को अनिष्ट जानकर उसके ऊपर द्वेष करता है, ज्ञानी तो क्रोध का भी वास्तव में ज्ञाता है, और परवस्तु का भी ज्ञाता ही है। उसके अभिप्राय में क्रोध परिणमन के प्रति द्वेष नहीं और क्षमा परिणमन पर राग नहीं है। ज्ञानी के भी किसी समय विशेष अशुभभाव होजाते हैं, किन्तु उसे उस परिणमन पर द्वेषबुद्धि नहीं है, लेकिन उसका ज्ञान करके वस्तुस्वभाव की एकाग्रता द्वारा उस अशुभभाव का नाश करता है। अज्ञानी जीव अशुभभावों पर द्वेष करके उन्हें टालना चाहता है, किन्तु उसे यह खबर नहीं है कि मेरा स्वभाव ही रागरहित है उसका लक्ष करूँ तो यह अशुभराग नष्ट होजाय। क्रोध टालने का उपाय क्रोध के प्रति द्वेष नहीं, किन्तु उसके प्रति समभाव है। क्रोधपर्याय के लक्ष से यदि क्रोध का नाश करना चाहे तो वह नहीं हो सकता, किन्तु क्रोधपर्याय का लक्ष छोड़कर क्रोधरहित आत्मस्वभाव में लक्ष करके एकाग्र होने से क्रोध स्वयं नष्ट होजाता है, क्रोध-रहित स्वभाव के लक्ष में रहकर क्रोध का लक्ष छोड़ दिया उसका नाम 'क्रोध के प्रति समभाव' है, परलक्ष से समभाव नहीं रहता किन्तु अपने स्वभाव पर लक्ष करने से सभी के प्रति समभाव हो जाता है—ऐसा समभाव सम्यग्दृष्टि के ही होता है।

(१७) मुक्त होने का उपाय

त्रिकाल मुक्तस्वरूप स्वतन्त्र तत्व की प्रतीति किये बिना

मुक्त होने का पुरुषार्थ कायरूप नहीं हो सकता। 'मुझे मुक्त होना है'–ऐसी जो अभिलाषा होती है उसी में अन्तर्गत अपने मुक्तस्वरूप का ज्ञान आजाता है, क्योंकि मुक्तस्वरूप को जाने बिना मुक्त होने की भावना कहाँ से आई ? इसप्रकार जीव को मुक्तस्वरूप का ज्ञान तो होता है, परन्तु वह उसकी प्रतीति नहीं करता। जीव बन्धभाव की प्रतीति तो करता है किन्तु बन्धभाव से रहित जो मुक्तस्वभाव है उसकी प्रतीति नहीं करता, इसीसे उसका पुरुषार्थ मुक्ति के उपाय की ओर उन्मुख नहीं होता किन्तु पुण्य पाप के बन्धभावों में ही रुक जाता है। यदि अपने मुक्तस्वरूप की प्रतीतिपूर्वक मुक्तस्वरूप के लक्ष से पुरुषार्थ को बढ़ाय तो उसे मोक्षमार्ग प्रगट होकर अल्पकाल में मुक्तदशा हुए बिना न रहे। ज्ञान का विकास कम हो या अधिक, उसके साथ मुक्ति के पुरुषार्थ का सम्बन्ध नहीं है, किन्तु मुक्तस्वरूप का जो ज्ञान है–उसकी मुख्यता करके मुक्तस्वरूप की प्रतीति करने की प्रथम आवश्यकता है और वहीं से मुक्ति के उपाय का प्रारम्भ होता है। मुक्तस्वरूप की प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है, और उस प्रतीति के द्वारा मुक्तस्वरूप का ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान है। वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसहित पुरुषार्थ ही मुक्ति के सन्मुख होता है, इसलिये मुक्तस्वरूप की प्रतीति ही मुक्त होने का मूल उपाय है।

द्वितीय अध्याय

(१८) आत्मा और कर्म

अपने स्वरूप का भान न होने से जीव के जो विकार की उत्पत्ति होती है वह संसार है। अपने स्वरूप के भान से भूल का नाश सो मुक्तिमार्ग है। और अपने स्वरूप के भानपूर्वक स्थिरता द्वारा विकार का नितान्त अभाव वह मोक्ष है। जीव के संसारदशा और कर्म का सम्बन्ध अनादि से है, किन्तु वे एक दूसरे की पर्याय को नहीं करते। कर्म जड़ परमाणुओं की अवस्था है, वह आत्मा की अवस्था में विकार नहीं कराता, और आत्मा उस जड़ की अवस्था का कर्ता नहीं है। अनादि से अपने यथार्थ स्वरूप को भूलकर जीव ने ऐसा माना है कि मैं विकारी हूं कर्म मेरी शक्ति को रोकते हैं, मैं शरीरादि जड़ की अवस्था कर सकता हूं, और पुण्य करते करते लाभ होगा—इसप्रकार स्वयं अपनी विपरीत मान्यता द्वारा मोहभाव करता है तब जड़ मोहकर्म को निमित्त कहा जाता है।

प्रश्न —प्रथम आत्मा का विकार है या कर्म ?

उत्तर —इसमें कोई प्रथम और पश्चात् नहीं है, दोनों अनादि से हैं। आत्मा और परमाणु–दोनों वस्तु हैं वस्तु का कभी प्रारम्भ नहीं होता, अर्थात् वह अनादि होती है। और वस्तु कभी पर्यायरहित नहीं होती, उसकी कोई न कोई पर्याय अवश्य ही होती है। अनादि से जीव की पर्याय विकारी है क्योंकि यदि विकारी पर्याय न हो तो संसार भी न हो। और

कम जड परमाणुओं की अवस्था है, वह भी अनादि से है। जीव का विकार और कम–दोनों प्रवाहरूप से अनादि से हैं। प्रथम जीव ने विकार किया और पश्चात् कम हुए–ऐसा नहीं है, अथवा पहले कम थे फिर जीव ने विकार किया–ऐसा भी नही है। आत्मा और कम में प्रथम–पश्चात् कोई न होने पर भी नान म दोनो यथावत् नात होते हैं। दोनो हाथ मिले, उसम कौन सा हाथ पहले स्पर्शित हुआ और कौन सा फिर ? उनम प्रथम-पश्चात् कोई नही है, किन्तु ज्ञान में तो वे दोनो जसे हैं वसे ही नात होते हैं। उसीप्रकार कम और आत्मा का विकार–यह दोनो अनादि से हैं, अनादि को अनादिरूप से सवज्ञदेव यथावत् जानते हैं। अनादि पदाथ को आदिमानरूप से जाने तो वह ज्ञान मिथ्या सिद्ध हो।

प्रश्न —अनादि पदाथ का नान किसप्रकार हो सकता है ? यदि अनादि पदाथ का नान भी हो जाये, तब तो नान म उसका अन्त आ जाय ?

उत्तर —अनादि पदाथ का आदि है ही नही तो फिर नान मे वह आदि कसे नात हो ? अनादि पदाथ को नान अनादिरूप से ही जानता है। इस सम्बध म एक स्थूल दृष्टात इस प्रकार है कि–गोल थाली के गोल आकार का प्रारम्भ और अन्त नही होता, तथापि उसका पूण गोलाकार नात हो सकता है। वसे ही पदाथ म आदि अन्त न होने पर भी उसका पूण ज्ञान हो सकता है। जसे बीज पहले किसी वटवृक्ष के रूप म था और वटवृक्ष पहले किसी बीज के रूप मे था,

इस बीज-वृक्ष की परम्परा में प्रथम कौन हुआ ? बीज-वृक्ष की परम्परा अनादि से ही है। ऐसी युक्ति से भी अनादिकालीनता सिद्ध होती है।

(१६) सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का सम्बन्ध लेश्या के साथ नहीं है

कृष्ण, नील, कापोत और पीत, पद्म, शुक्ल—यह छह लेश्या हैं। लेश्या अर्थात् कषाय से अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति। छह लेश्या में पहली तीन अशुभ हैं और दूसरी तीन शुभ हैं। अज्ञानी जीव के छहों प्रकार की लेश्या हो सकती हैं, और ज्ञानी के भी छहों प्रकार की लेश्या हो सकती हैं। लेश्या का सम्बन्ध सम्यग्दर्शनादि गुणों के साथ नहीं है किन्तु शुभाशुभ भावों के साथ है। शुभ अशुभ भावों की तीव्रता मन्दतानुसार लेश्या के प्रकार होते हैं।

प्रश्न—जब शुक्ल लेश्या हो तब संज्वलन कषाय और जब कृष्ण लेश्या हो तब अनन्तानुबन्धी कषाय—ऐसा लेश्या और कषाय का सम्बन्ध क्यों नहीं होता ?

उत्तर—कषाय के अनुसार लेश्या नहीं होती, किन्तु कषाय की तीव्रता मन्दतानुसार लेश्या होती है। किसी जीव के शुक्ल लेश्या हो तथापि अनन्तानुबन्धी क्रोध विद्यमान होता है, और किसी जीव के कृष्ण लेश्या हो तथापि अनन्तानुबन्धी क्रोध नहीं होता। जिस जीव की दृष्टि ही मिथ्या है उसे वस्तु स्वरूप की खबर ही नहीं है, इससे उसे तो निरन्तर अनन्तानु-बन्धी आदि चारों कषायें प्रवर्तमान हैं, भले ही उसके शुक्ल

लेश्या हो तो भी निरंतर चारों कषायें विद्यमान हैं। और जिसे यथार्थ दृष्टि के द्वारा वस्तुस्वरूप का भान है, उसके कृष्ण लेश्या के समय भी अनंतानुबंधी कषाय का तो अभाव ही रहता है। अज्ञानी के जब अनंतानुबंधी आदि चारों कषायें मंदरूप से प्रवर्तमान हों तब शुक्लादि शुभ लेश्या होती हैं और जब वे कषाय तीव्ररूप से प्रवर्तमान हों तब कृष्णादि लेश्या होती हैं, किंतु मंदकषाय या अशुभ तीव्रकषाय—वे दोनों संसार का ही कारण हैं। अत्यंत मंदकषाय करके शुक्ल लेश्या करे इससे उसके अनंतानुबंधी कषाय का अभाव होजाता है—ऐसा नहीं समझना चाहिये। और ज्ञानी के अपनी अपनी भूमिका के अनुसार अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों की तीव्रता अथवा मंदतानुसार यथायोग्य शुभ या अशुभ लेश्या होती हैं। किंतु उनकी भूमिका में योग्य तीव्र कषाय हो और कृष्ण लेश्या हो जाये तो उससे उनके अनंतानुबंधी कषाय हो जाती है—ऐसा नहीं समझना चाहिये।

लेश्या के साथ सम्यक्त्व–मिथ्यात्व का सम्बंध नहीं है। किसी के शुक्ल लेश्या हो तथापि अनंतसंसारी होता है और किसी के कृष्ण लेश्या हो तब भी एकावतारी होता है। सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है और मिथ्यात्व ही संसार का मूल है। एक तो हजारों पशुओं का वध करने वाला कृष्ण लेश्यायुक्त कसाई, और दूसरा 'मैं पर का कर सकता हूँ, तथा पुण्य में धर्म होता है"–ऐसी मिथ्या मान्यता वाला शुक्ल लेश्याधारी द्रव्यलिंगी जैनसाधु–यह दोनों जीव चार

कषायों की अपेक्षा से बराबर है क्योंकि दोनों जीवों के चार प्रकार की कषाय प्रवर्तमान हैं। मात्र वर्तमान जितनी तीव्रता और मन्दता की अपेक्षा से अन्तर है, इसलिये उनकी लेश्या में अन्तर है, और उसमें संसार में एकाध भव का अन्तर पड़ेगा, किन्तु वे दोनों संसारमार्ग में ही हैं। दोनों अधर्मी हैं, दोनों में से कोई भी धर्मसन्मुख नहीं है। कषाय को मन्द करने से धर्म के सन्मुख नहीं हुआ जाता किन्तु मेरा स्वभाव सर्व कषायों से रहित है, मैं ज्ञानस्वरूपी ही हूँ कषाय मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसे अपने अकषाय स्वभाव के लक्ष से यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान का अभ्यास करने से धर्मसन्मुख हुआ जाता है, और जीव को अकषाय स्वभाव का लक्ष होने पर वह कषाय को अपने कर्तव्यरूप से स्वीकार नहीं करता इससे वहाँ पर सहज ही कषाय की मन्दता होजाती है।

(२०) कषाय मन्द कब होती है ? और उसका अभाव कब होता है ?

किसी जीव को वीतरागी देव गुरु शास्त्र की मान्यता हुई है, अर्थात् यथार्थ निमित्तों का लक्ष हुआ है किन्तु अभी अपने आत्मस्वभाव की पहिचान नहीं हुई और सूक्ष्म विपरीत मान्यता दूर नहीं हुई—ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव नवतत्वों की श्रद्धा ग्यारह अंग का ज्ञान और पंचमहाव्रत का पालन करे तो उसके कषाय की मन्दता इतनी हद तक होसकती है कि वह बारहवें स्वर्ग के ऊपर भी जा सकता है। इस जीव के अकषाय निमित्तों का लक्ष हुआ है इसलिये बारहवें स्वर्ग से

जसे किसी के मुँह पर दाग हैं, दपण में देखने से वे दाग दिखाई देते हैं, कि तु कहीं दपण म वे दाग नहीं हैं, और दपण ने उन दागो को नही किया है, दाग तो मुँह पर हैं। इससे दाग दूर करने के लिये यदि कोई दपण को घिसने लगे तो दाग दूर नही होंगे, कि तु वह जानकर कि दाग मुँह पर हैं, मुँह को साफ करे तो वे दाग दूर होजायँ। उसीप्रकार आत्मा वस्तु अन त गुण का पिण्ड है उसके परिणाम में अनादि से भूल है, भूल के समय कर्मों की उपस्थिति है वह निमित्त है, वह कर्मों का निमित्तपना तो यह बतलाता है कि जो भूल है वह जीव का स्वभाव नही, कि तु विकार है। वह विकार कर्मों मे नही होता, और कम विकार नही कराते। विकार तो जीव की पर्याय म होता है, उसका कारण जीव की उस समय की पयाय है, जीव का त्रैकालिक स्वभाव भूल वाला नही है। ऐसा जान ले तो जीव अपने पुरुषाथ से दोषों को दूर करे।

और जिसप्रकार कम जीव को दोष नही कराते वसे ही देव गुरु शास्त्र जीव के दोषो को दूर नहीं कर देते। जसे दपण तो मात्र मुह पर के दोष का ज्ञान कराता है, कि तु कहीं दागो को दूर नहीं कर देता। दपण में दाग भी वही देख सकता है जिसम देखने की शक्ति हो, किन्तु अन्धे को अपने दाग दिखाई नहीं देते। वसे ही देव गुरु शास्त्र तो दपण के समान हैं, उनके निमित्त से पात्र जीव अपने शुद्धस्वभाव को और भूल को जान लेते हैं, और यथाथ उपाय

द्वारा उस भूल को दूर करते हैं। किन्तु कहीं देव गुरु शास्त्र उनकी भूल को दूर नहीं कर देते।

यदि सूझता मनुष्य अपना मुख देखे तो उसे दर्पण निमित्त कहा जाता है, किन्तु अन्धा मनुष्य अपना मुँह ही नहीं देख सकता उसे दर्पण निमित्त कैसे कहा जायगा? उसीप्रकार जो जीव अपनी पात्रता के द्वारा भूल को जानकर सम्यग्ज्ञान के द्वारा उसे दूर करता है उसको सत्‌देव गुरु शास्त्र निमित्त कहे जाते हैं, किन्तु जो जीव अपनी भूल को ही नहीं जानता उसे देव गुरु शास्त्र भूल को दूर करने में निमित्त भी नहीं कहे जाते।

इसमें तो अनेक बात सिद्ध हो जाती हैं—आत्मा है, आत्मा का परिणमन (अवस्था) है उस परिणमन में भूल है भूल में कर्म निमित्त हैं, परिणमन में जो भूल है वह क्षणिक है, आत्मा का त्रिकालस्वभाव शुद्ध परिपूर्ण है उसमें भूल नहीं है उस स्वभाव के भान से वह भूल दूर हो सकती है, उस भूल को दूर करने में सच्चे देव गुरु-शास्त्र निमित्त हैं, भूल दूर करने से कर्म का संयोग भी स्वयं दूर हो जाता है—इसप्रकार नवतत्त्वों का सार इसमें आजाता है।

आत्मवस्तु स्वयं स्वाधीन सुखरूप है, किन्तु अपने स्वभाव को अनन्तकाल से जाना नहीं, माना नहीं और अनन्त काल से संसार में दुःखी होरहा है। जिस भूल के फलस्वरूप अनन्तकाल से दुःखी होरहा है वह भूल महान होगी या अल्प? यदि वह भूल अल्प होती तो उसके फल में

अनन्त दुःख नही होता। जीव ने अपने अपार स्वभावसामर्थ्य का ही अनादर किया है। उस महान भूल के फल मे उसे प्रतिक्षण अनन्त दुःख है। अपने स्वभाव की यथार्थ पहिचान और आदर द्वारा उस महान भूल को दूर करे तो उसका अनन्त दुःख दूर हो, और अविनाशी सुख का उपाय प्रगट हो। जीव स्ववस्तु के भान बिना परलक्ष से अनादिकाल से भूल करता आरहा है तथापि स्ववस्तु की पहिचान के द्वारा वह भूल इसी क्षण दूर हो सकती है इसलिये अवस्था की भूल को बतलाकर उसे दूर करने का उपाय बतलाते हैं।

(२७) कषायें और उनके प्रकार

अनादि ससारी जीव के अनन्तानुबन्धी आदि चारो प्रकार की कषायें निरन्तर प्रवतमान रहती हैं। अज्ञानी के उच्च शुभभाव हो तब भी उसके वे चार प्रकार की कषाय होती है। क्योंकि तीव्रता मन्दता की अपेक्षा से वे अनन्तानुबन्धी आदि भेद नही हैं, किन्तु जीव के सम्यग्दर्शनादि निर्मल भावो का घात होने की अपेक्षा से वे भेद हैं। जीव जब सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग प्रगट करता है तब उन कषायो का क्रमश अभाव होता है।

- अज्ञानी के अनन्तानुबन्धी आदि चारो प्रकार की कषायें एक ही साथ निरन्तर प्रवतमान रहती हैं, किन्तु उस प्रत्येक कषाय के क्रोध मान माया और लोभ—ऐसे चार भेद है, वे चारो एकसाथ नही होते, किन्तु इन क्रोधादिक चार मे से एक समय म एक ही कषाय म जीव का उपयोग लगता है।

सज्वलन, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान और अनतानुबधी यह चारो कषायें तो अज्ञानी के एकसाथ होती हैं, किन्तु क्रोध, मान, माया और लोभ यह चारो एकसाथ उसके व्यक्तरूप नही होते । जब जीव का उपयोग क्रोध के उदय मे लीन होगा उस समय माय इत्यादि मे उसका उपयोग काम नही कर सकता । इससे ऐसा नही समझना चाहिये कि जब जीव क्रोध मे युक्त हो उस समय मान, माया, लोभ उसके दूर ही हो गये हैं ।

इन क्रोधादि कषायो में भी एक दूसरे मे परस्पर कारण कार्यपना प्रवतन होता है—किसी समय क्रोध से मानादि हो जाते हैं, किसी समय मान से क्रोधादि होजाते हैं । इससे किसी समय इन कषायो में परस्पर भिन्नता प्रतिभासित होती है और किसी समय नही । इसप्रकार ससारी जीव के अनादि से कषायरूप परिणमन होता है, और उससे जीव को दुःख होता है । इसलिये हे भव्य ! तुझे वे समस्त कषायें दूर करने योग्य हैं ।

क्रोधादि तो जीव के क्रमसे ही होते हैं, क्रोध के समय मानादि नही होते, किन्तु जीव का परिणमन इतना सूक्ष्म है कि स्थूल उपयोग के द्वारा जीव भिन्न भिन्न परिणामो को नही जान सकता । कषायरूप परिणमन होता है अर्थात् जीव स्वत क्रोधादि कषायरूप परिणमित होता है, कषायें जीव की पर्याय में होती हैं । इसप्रकार पर्याय को सिद्ध किया है ।

(२३) विकाररूपी रोग और उसे मिटाने का उपाय

जीव का शाश्वत स्वभाव मलिनता नहीं है, किन्तु उसके परिणमनरूप अवस्था में यदि मलिनता न हो तो वर्तमान पर्याय में ही केवलज्ञान और सिद्धदशा प्रगट होना चाहिये। किन्तु वर्तमान में मलिनता होने से ज्ञान बहुत ही अल्प है। यहाँ पर विकारी अवस्था बतलाकर जीव को यह समझाना है कि हे भाई! तेरी अवस्था में विकार होने पर भी तेरा पूर्ण आत्मा उस समय अशुद्ध नहीं हो गया है, यदि सम्पूर्ण आत्मा अशुद्ध हो गया हो तो अशुद्धता कभी आत्मा से अलग नहीं हो सकती। किन्तु अशुद्धता क्षणिक है और वह दूर हो सकती है, इसलिये तू उसे दूर करने का प्रयत्न कर।

इस मोक्षमार्ग प्रकाशक में इस समय यह सिद्ध करना है कि जीव की अवस्था में विकाररूपी रोग है क्योंकि यदि जीव को रोग का आभास हो तो वह उससे मुक्त होने का उपाय करेगा। और समयप्राभृत में आत्मा का शुद्ध स्वभाव बतलाया है, उसमें द्रव्यदृष्टि से कहते हैं कि विकार आत्मा में है ही नहीं, विकार का कर्ता आत्मा नहीं है, आत्मा के स्वरूप में विकार है ही नहीं। यह समझाकर जीव की पर्यायमूढ़ता छुड़ाकर द्रव्यदृष्टि कराने का प्रयोजन है, क्योंकि जो जीव अपने को विकार जितना ही माने, और विकाररहित स्वभाव की पहिचान न करे तो वह किसके लक्ष्य से विकार को दूर करेगा? इसप्रकार अपना शुद्ध स्वभाव और अवस्था का विकार—दोनों को जानकर अपने ज्ञान में शुद्ध

स्वभाव की मुख्यता और अवस्था की गौणता करने से जीव को सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान होता है, इसी का निश्चयनय का अवलम्बन कहा जाता है और इसी उपाय के द्वारा जीव का संसार रोग नष्ट होता है।

(२४) भूल कब दूर होती है ?

१—आत्मा को माने किन्तु उसके परिणमन को न माने तो उसकी भूल दूर नहीं होती।

२—आत्मा को माने और उसके परिणमन को भी माने, किन्तु यह न माने कि परिणमन में भूल है, तो भी भूल दूर नहीं होती।

३—आत्मा को माने उसके परिणमन को माने और यह भी माने कि उसके परिणमन में भूल है, किन्तु भूलरहित शुद्ध स्वरूप को न माने तो भी भूल दूर नहीं होती।

(१) आत्मा को माने (२) उसके परिणमन को माने, (३) उसके परिणमन में भी भूल है यह भी माने, और (४) उसके त्रिकाल शुद्धस्वरूप में भूल नहीं है,—ऐसा जानकर यदि त्रैकालिक शुद्धस्वरूप का अवलम्बन करे तो भूल दूर हो जाती है।

(२५) प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्रता और भिन्नत्व

इस जगत में अनंत आत्मा हैं, वे प्रत्येक स्वतंत्र हैं, अपने शुद्धस्वरूप के रूप से नित्य स्थिर रहकर वे अवस्थारूप से परिणमन करते हैं, अवस्था में अपने दोष से विकार होता है और उस विकार में कर्म निमित्त हैं। प्रत्येक आत्मा भिन्न

है, एक आत्मा का मोक्ष होने से सभी आत्माओं का मोक्ष नही होजाता, और सिद्धदशा में भी ज्योति की भांति एक आत्मा दूसरे आत्मा मे मिल नही जाता, परन्तु निरन्तर भिन्न ही रहते हैं और वहाँ भी प्रत्येक के सुख इत्यादि का स्वतत्र परिणमन है। यदि सिद्धदशा म एक आत्मा दूसरे म मिल जाता हो तो सिद्धदशा मे आत्मा के स्वतत्र अस्तित्व का नाश हो जाये। और यदि ऐसा हो तो, जिसम आत्मा के अस्तित्व का नाश हो जाये ऐसी सिद्धदशा की अपेक्षा तो ससारदशा ही श्रेष्ठ है कि जहाँ स्वतत्ररूप से रहकर आत्मा सुख दुख को जानता तो है। सिद्धदशा के समय एक आत्मा दूसरे आत्मा मे मिल जाता है—ऐसा मानना बिलकुल अज्ञान है, सिद्धदशा म कभी भी एक आत्मा दूसरे में नही मिल जाता, किन्तु स्वतत्र है, वह निरन्तर स्वतत्र ही रहता है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से सदा एकरूप, और अन्य सब पदार्थों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से भिन्न ही रहता है, कोई आत्मा कभी भी दूसरे के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में नहीं मिल जाता। शरीरादि के प्रत्येक प्रत्येक रजकण भी अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से स्वतत्र हैं। एक रजकण दूसरे में नहीं मिलता। रजकणों में सयोग वियोग कहना वास्तव में तो आकाशक्षेत्र की अपेक्षा से है, वस्तु के अपने भाव मे सयोग वियोग कसा? वस्तु तो त्रिकाल अपने स्वरूप मे ही है। दो वस्तुएँ क्षेत्र मे निकट आइ उसे व्यवहार से सयोग कहा जाता है और दो वस्तुएँ क्षेत्र से अलग हुइ उसे व्यवहार से वियोग कहा जाता है,

किंतु यदि वस्तु के स्वभाव से ही देखें तो एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बध ही नहीं है, प्रत्येक वस्तु निरपेक्ष है। स्वतन्त्र निरपेक्ष वस्तुस्वभाव को जाने बिना जीव की भूल कभी दूर नहीं हो सकती।

(२६) ज्ञानी और अज्ञानी के अभिप्राय में अन्तर

अज्ञानी जीव परपदार्थों को इष्ट अनिष्ट मानकर राग द्वेष करते हैं। ज्ञानियों के राग द्वेष होता है, परन्तु वे पर पदार्थों को इष्ट अनिष्ट नहीं मानते, किन्तु अपने पुरुषार्थ की अशक्ति को जानते हैं।

अज्ञानी परवस्तु को इष्ट मानकर हास्य करते हैं, अधिकांश लोग हास्य को गुण और सुख का कारण समझते हैं, किन्तु हास्य दोष है, विकार है, अवगुण है, और उसमें आकुलता का दुःख है। ज्ञानियों के भी हास्य हो जाता है, किन्तु उसमें वे परवस्तु को इष्टरूप नहीं मानते और उस हास्य को सुखरूप नहीं मानते। उसी प्रकार शोक में भी अज्ञानी जीव पर का दोष निकालते हैं, ज्ञानियों के शोक होता है किन्तु वे पर के कारण शोक नहीं मानते।

जब ऋषभदेव भगवान मोक्ष पधारे उससमय भरतचक्रवर्ती जैसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा भी शोक के कारण आंसू बहा कर रोये हैं। स्वयं को आत्मभान है, राग होता है उसे अपना स्वरूप नहीं मानते, और भगवान का विरह होने से वह राग हुआ है—ऐसा भी नहीं मानते, स्वयं भी उसी भव में

मोक्ष प्राप्त करनेवाले हैं, किन्तु अभी पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण राग है इससे भगवान का विरह होने पर चौधारा आँसुओं से रोते हैं कि अरे रे ! इस भरत में से केवलज्ञानरूपी सूर्य अस्त हो गया, भरत को भगवान का विरह हुआ ! वास्तव में तो अपने को अपने केवलज्ञान का विरह दुःखद लगता है और उससे प्रशस्त रागभाव आये बिना नहीं रहता। श्रद्धा और ज्ञान तो यथार्थ है किन्तु अभी चारित्र की पर्याय में दोष है इससे राग होता है, उसके भी वास्तव में तो ज्ञाता ही है। राग के समय भी अभिप्राय में किसी परवस्तु को इष्ट अनिष्ट नहीं मानते। "अरे रे ! श्रीभगवान का विरह हो गया !" ऐसा ज्ञानी बोलते अवश्य हैं, किन्तु वास्तव में भगवान का संयोग इष्ट और वियोग अनिष्ट—ऐसा वे अपना अभिप्राय नहीं रखते, किन्तु मैं तो संयोग और वियोग का भी ज्ञाता हूँ—ऐसे अभिप्राय से ज्ञातारूप ही रहते हैं। अज्ञानी जीव अपना ज्ञातापन भूल जाते हैं और ऐसा मानते हैं कि संयोग वियोग के कारण हमें राग होता है इससे उनके कभी राग दूर नहीं होता।

(२६) इष्ट और अनिष्ट क्या है ?

वस्तु तो वस्तु के भाव में ही है, कोई वस्तु इष्ट या अनिष्ट नहीं है। यदि वस्तु के स्वभाव में इष्टता अनिष्टता हो, तो वह वस्तु ही राग द्वेष का कारण सिद्ध हो, और केवली भगवान के भी अधिक रागद्वेष हो, क्योंकि वे सभी वस्तुओं को जानते हैं। कोई परद्रव्य इष्ट अनिष्ट नहीं है। समस्त

वस्तुएँ स्वयं अपने स्वभाव में ही हैं उनमें किसे इष्ट कहा जावे और किसे अनिष्ट कहा जावे ? जो परवस्तु को इष्ट-अनिष्ट मानता है उसका अनंत परद्रव्यों के प्रति राग द्वेष कभी दूर नहीं होता, वह मिथ्यादृष्टि है। देव-गुरु शास्त्र वास्तव में इस आत्मा को इष्ट नहीं हैं और शरीर को काटनेवाला अनिष्ट नहीं है।—ऐसा भान कर तो वीतरागी दृष्टि होजावे और किसी के भी प्रति राग द्वेष करने का अभिप्राय दूर हो जावे—यही अनंत समभाव है। जीव को अपना विकारभाव अनिष्ट है और विकाररहित स्वभाव इष्ट है।

हे जीव ! कोई भी परवस्तु तुझे इष्ट अनिष्ट नहीं है, इस लिये तू अपने स्वभाव को इष्ट जान और पर्याय में जो विकाररूपी रोग है उसी को अनिष्ट जान। पर को इष्ट-अनिष्ट मानकर जो राग द्वेष करता है वह अज्ञानी है, उस तो राग द्वेष दूर करने का ही अवकाश नहीं है क्योंकि जगत में जो अनंत वस्तुएँ हैं उनमें किसी में इष्ट और किसी में अनिष्टता माने बिना नहीं रहेगा, और जिसे इष्ट मानेगा उसके प्रति राग तथा जिसे अनिष्ट मानेगा उसके प्रति द्वेष हुए बिना रहेगा ही नहीं, इससे जो जीव परद्रव्य को इष्ट अनिष्ट माने उसे अनंतानुबंधी राग द्वेष होता है और वह अपने परम इष्ट स्वभाव को भूल जाता है। ज्ञानियों के राग द्वेष होता अवश्य है, किन्तु किसी परद्रव्य को इष्ट अनिष्ट मानने से नहीं होता, लेकिन अपने पुरुषार्थ के दोष से होता है, और उस दोष को चारित्र की अपेक्षा से अनिष्ट जानते हैं,

अपना शुद्ध स्वभाव ही परम इष्ट है उसमे स्थिरता करके उस दोष को दूर करते हैं।

वस्तु अपने स्वभाव से ही द्रव्य गुण पर्यायस्वरूप है, द्रव्य गुण पर्याय त्रिकाल स्वतत्र हैं, जिस जिस समय म जो पर्याय हो, वह उस समय का वस्तु का ही स्वतत्र परिणमन है। इससे जो जीव परवस्तु की पर्याय को इष्ट अनिष्ट मानता है वह जीव परवस्तु के स्वभाव को ही इष्ट-अनिष्ट मानता है, क्याकि परिणमन वस्तु का स्वभाव है, पर वस्तु के स्वभाव को इष्ट अनिष्ट मानना वह मिथ्यात्व है। वास्तविक दृष्टि की अपेक्षा से तो अपनी पर्याय भी इष्ट अनिष्ट नही है, क्योकि दृष्टि मे पर्यायभेद की स्वीकृति नही है।

पर में इष्टता–अनिष्टता मानकर जो राग द्वेष करता है उसके मात्र चारित्र का ही दोष नही है, पर तु श्रद्धा का भी दोष है। श्रद्धा का दोष ही अन त ससार का मूल कारण है, उसके दूर होने पर जो राग द्वेष हो वह दीघससार का कारण नही है। ज्ञानी के जब राग द्वेष होता है उस समय भी श्रद्धा और ज्ञान तो निमल ही परिणमित रहते हैं, अर्थात् राग द्वेष के समय भी श्रद्धा और ज्ञान की अपेक्षा से तो स्वभाव की ओर का ही परिणमन है और उससे उनके निजरा है। चारित्र का जो अल्प दोष है उसका भी श्रद्धा में स्वीकार नही है, ज्ञान उसे जानता है।

मैं परवस्तु का सयोग वियोग कर सकता हूँ–ऐसा अज्ञानी मानता है इससे स्वत जिसे इष्ट मानता है उसका सयोग

करना चाहता है और जिसे अनिष्ट मानता है उसका वियोग करना चाहता है, किन्तु परवस्तु का परिणमन तो उस वस्तु के ही आधीन है इससे उसके परिणमनानुसार संयोग वियोग होते रहते हैं, इस जीव की इच्छानुसार ही उसका परिणमन नहीं होता। अज्ञानी जीव उसमें व्यर्थ ही राग द्वेष और कर्तृत्वबुद्धि करके दुःखी होते हैं।

ज्ञानी ऐसा जानते हैं कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, किसी भी पदार्थ में परिवर्तन करने के लिये मैं समर्थ नहीं हूँ। ऐसा जानने से वे किसी परवस्तु को इष्ट अनिष्ट नहीं मानते और उसका संयोग वियोग मैं कर सकता हूँ–ऐसा नहीं मानते। परवस्तुओं का परिणमन चाहे जैसा हो वह राग द्वेष का कारण नहीं है–ऐसे निर्णायक अभिप्राय के बल से ज्ञानी का अधिकांश राग-द्वेष तो दूर हो गया है और जो अल्प दोष रहा है उसे भी पुरुषार्थ की जागृति द्वारा प्रतिक्षण दूर करते रहते हैं।

(२७) मोक्षमार्गी और संसारमार्गी

अज्ञानी को असंयोगी आत्मस्वभाव की पहिचान न होने से उसका लक्ष संयोग के ही ऊपर है और संयोग को जानने से उनमें परिवर्तन करने के अभिप्राय से वह दुःखी होता है। ज्ञानी की दृष्टि अपने असंयोगी स्वभाव पर है, वे स्वभाव की निःशंकतापूर्वक संयोगों को जानते हैं, किन्तु उनसे लाभ-हानि होने की शंका नहीं करते, इससे उन्हें स्वभाव के लक्ष से अंतरंग में समभाव प्रवर्तमान है, ज्ञानी अपने गुणों की दृष्टि के द्वारा अवगुणों को नष्ट करते हैं। इसप्रकार ज्ञानी

का स्वामित्व स्वभाव म है और पर के ऊपर से तथा विकार के ऊपर से स्वामित्व हट गया है, और अज्ञानी का स्वामित्व पर के ऊपर तथा विकार के ऊपर है, स्वभाव को वह भूल गया है। पहला जीव मोक्षमाग मे है, दूसरा ससार माग म है। इसप्रकार दृष्टि का अ तर ही ससार–मोक्ष है, वाह्य क्रियाओ स या सयोग से उनका माप नही होता।

(२८) प्रभुता

अवस्था म भूल होने पर भी अपनी स्वरूपशक्ति से तो सभी आत्मा प्रभु हैं–पूर्ण है। अपनी स्वरूपशक्ति की पहिचान करके भूल का दूर करेगा तो वह प्रगट वीतराग हो-जायेगा। प्रत्येक आत्मा केवलज्ञान आन द का पिंड है केवल ज्ञान कहाँ स प्रगट होता है ? आत्मा म स ही प्रगट होता है। यदि आत्मा म केवलज्ञान हो तभी तो वह प्रगट होगा न ? इसलिये प्रत्यक आत्मा म केवलज्ञानशक्ति है। प्रत्यक आत्मा म शक्तिरूप से त्रिकाल पूर्ण प्रभुता है अपनी शक्ति के विश्वास और एकाग्रता द्वारा वह पर्याय में व्यक्त हो सकती है। अपनी प्रभुता को भूला है वही पामरता है, और अपनी प्रभुता का भान किया, वही प्रभुता प्रगट होने का उपाय है।

(२९) ज्ञानस्वभाव ही इष्ट है, पुण्य मे आत्मा को बन्धन होता है

एक चारित्रमोह नामक प्रकृति है, वह तो जड है कि तु अज्ञानी जोव स्वभाव का भूलकर उस प्रकृति के उदय म लीन

होने से परवस्तु को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष करते हैं। आत्मा स्वतन्त्र पदार्थ है, पर से भिन्न है आत्मा का गुण आत्मा में ही है, आत्मा ज्ञानस्वरूप है उसके ज्ञान में सब पदार्थ ज्ञात होने योग्य हैं, किन्तु ज्ञान को कोई पदार्थ इष्ट अथवा अनिष्ट नहीं है उसका ज्ञानस्वभाव ही इष्ट है, उसे भूलकर यदि पदार्थ का मन्द करे तो पुण्यबन्ध करेगा, अर्थात् पुण्यबन्धन से आत्मा बंधेगा किन्तु उससे आत्मा का धर्म प्रगट नहीं होगा।

(३०) स्वतन्त्र पुरुषार्थ

जिस जीव ने पर वस्तुओं को विकार का कारण माना है, उसने विकार के नाशक अपने स्वतन्त्र पुरुषार्थ को नहीं माना है। क्योंकि परवस्तु को विकार का कारण माना है, अर्थात् परवस्तु दूर हो तो विकार का नाश हो ऐसा माना है, और परवस्तु स्वतन्त्र होने से उसे दूर करना आत्मा के हाथ की बात नहीं है, विकार का पुरुषार्थ स्वयं स्वतन्त्ररूप से करता है तथापि उसे स्वीकार नहीं करता। यदि अपने स्वाधीन पुरुषार्थ को स्वीकार करे तो पर की ओर के लक्ष्य को छोड़कर स्वभाव का लक्ष्य करने का प्रयत्न करे।

(३१) इच्छा और अभिप्राय

मैं पर-पदार्थों में परिवर्तन कर सकता हूँ—ऐसा मानकर अज्ञानी जीव उन्हें परिवर्तित करने का भाव करता है, यही उसकी दृष्टि की विपरीतता है। दृष्टि की विपरीतता का अर्थ

है मूल मान्यता मे ही भूल, वह ससार का कारण है। ज्ञानी को पर से भिन्न स्व स्वभाव का भान है और स्वभावदृष्टि मे इच्छा का भी अभाव है, इससे स्वभावदृष्टि मे ससार का अभाव है, वह स्वभावदृष्टि ही मोक्ष कारण है। स्वभाव दृष्टि का अर्थ है वस्तुस्वभाव को यथावत् मानना।

ज्ञानी को स्वभाव का भान होने पश्चात् भी निचलीदशा में इच्छा होजाती है, किन्तु उन्हे उस इच्छा की अथवा पर वस्तु की भावना नही है। उसी प्रकार उस इच्छा में, अथवा इच्छानुसार पर द्रव्य का परिणमन हो उसम, वे अपना सुख नही मानते, इच्छारहित अपने ज्ञानभाव को ही सुखरूप जानते हैं, मानते हैं, और अनुभव करते हैं। अज्ञानी जीव को स्व पर के भिन्नत्व का भान नही है, इससे इच्छानुसार पर द्रव्यो को परिणमित करना चाहता है, और किसी समय यदि पर द्रव्य का परिणमन अपनी इच्छानुसार हो जाये तो उसमे वह अपना सुख मानता है। अर्थात् उसे निरतर पर पदार्थों की ही भावना और इच्छा रहती है, किन्तु इच्छा से और पर के सयोग से रहित ज्ञानस्वभाव की भावना नही है—यही उसकी दृष्टि की महा विपरीतता है।

सम्यकदर्शन प्रगट करने के पश्चात् ज्ञानी के कदाचित् लाखो वर्ष तक इच्छा बनी रहे तब भी उनके किंचित् भी दृष्टि का (श्रद्धा का–सम्यग्दर्शन या अभिप्राय का) दोष नही है, दृष्टि में इच्छा का अभाव है। और अज्ञानी जीव कदाचित् अतमुहूर्त के पश्चात् ही समझ जानेवाला हो तो भी जबतक

परवस्तु की इच्छा करता है, तब तक तो दृष्टि का ही दोष है। दृष्टि के दोष को दूर न करके इच्छा को अधिक मन्द करे तो भी उसके संसार की ही वृद्धि है।

जब दान के शुभभाव होते हैं तब अज्ञानी की दृष्टि पर वस्तु के लेन देन पर है, वह उसकी दृष्टि की भूल है। ज्ञानी के दान का शुभभाव हो किन्तु वे परवस्तु को स्थानान्तर करना नहीं मानते लेकिन अपने स्वभाव की एकाग्रता द्वारा राग को हटाने की भावना होती है। शुभभाव के समय अज्ञानी को बाह्य क्रिया आग्रह है, और ज्ञानी को शुभभाव के समय बाह्य क्रिया हो या न हो, उसका आग्रह नहीं है।

(३२) अंतराय

लाभान्तराय कर्म के उदय में युक्त अज्ञानी जीव परवस्तु को प्राप्त करने की इच्छा करता है। जहाँ परवस्तु को प्राप्त करने की इच्छा हुई वहीं वह लाभान्तराय कर्म के उदय में युक्त हो गया है, इससे स्वभाव की ओर का उसका पुरुषार्थ रुक गया है। अज्ञानी की दृष्टि पराधीन होने से पर के ऊपर ही उसका लक्ष्य जाता है, इससे स्वभाव की ओर के पुरुषार्थ में उसे सदैव अन्तराय ही है। ज्ञानी की दृष्टि स्वाधीन है इससे वह स्वभाव के लक्ष्य से पुरुषार्थ का प्रारम्भ करके अल्पकाल में ही मुक्तदशा प्रगट करता है।

प्रश्न—लाभान्तराय कर्म के उदय के कारण इच्छानुसार नहीं मिलता, परन्तु यदि लाभान्तराय कर्म के उदय में युक्त न हो तो जैसी इच्छा करे वैसा ही हो न ?

निर्विकारी और सामग्री के सग से रहित–ऐसा आत्मस्वभाव है उसका ज्ञान म मूल्य होने पर अपूर्णता, विकार और सामग्री की महिमा दूर हो गई–वही मुक्ति का उपाय है। ज्ञान में अपने आत्मस्वभाव का मूल्य आये बिना चाहे जितने उपाय करे, कि तु वे सभी मिथ्या हैं। आत्मा का स्वभाव चत यमय, अचित्य शक्तिरूप और स्वत से ही कृतकृत्य है— उसे जाने तो उसकी महिमा आये। जिसन अपने स्वभाव को ही पूर्ण कृतकृत्य जाना है–ऐसे ज्ञानी को अन्य भावो से क्या प्रयोजन है ? जिसने अपने स्वभाव को ही कृतकृत्य जान लिया है उसे कभी कि ही अ य भावो की महिमा होती ही नही।

(३५) रोग को जानकर उसे दूर करने का उपाय कर!

हे भव्य ! अनादि से आठ कर्मों के निमित्त से अपूर्ण पर्याय, विकार और पर सयोगो म आत्मबुद्धि धारण करके तू दुःखी हो रहा है। अपने अन्तरग में तू विचारपूर्वक देख कि ऐसा ही है या नहीं ? विचार करने पर तुझे ऐसा ही प्रतिभास होगा। और यदि ऐसा ही है तो तू निश्चय से ऐसा मान कि मुझे अनादि ससाररोग है और उसे नाश करने का उपाय करना मुझे आवश्यक है। ऐसा सोचकर अपने शुद्धस्वभाव की श्रद्धा–ज्ञान द्वारा अनादि की भूल को दूर करने का प्रयत्न कर। ऐसा करने से अवश्य तेरा कल्याण होगा।

★

तीसरा अध्याय

(३६) मगलाचरण

जे निजभाव सदा सुखद निजनो करो प्रकाश,
जे बहुविधि भव दुखतणी, करे छे सत्ता नाश।

हे आत्मा ! तेरा सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप निर्मलभाव सदा सुखरूप है, अपने उस स्वभावभाव को तू प्रगट कर। तेरा वह भाव अनेक प्रकार के भवदुखो की सत्ता का नाशक है। यहाँ सम्यग्दर्शनादि निजभाव प्रगट करने की प्रेरणा करके ग्रन्थकर्ता ने मगलाचरण किया है।

(३७) दुखों से मुक्त होने का उपाय कौन करेगा ?

ससार–दुखो से छूटने का उपाय बतलाने से प्रथम ग्रथकार ससार के दुखो के स्वरूप का वर्णन करते हैं। क्योकि यदि ससार के दुखो का भास हो और मोक्ष सुख का भास हो तो ससार के दुखों से छूटने का प्रयत्न करे। किन्तु ससार की तीव्र रुचि वाले जीवो को ससार के दुखो का आभास ही नही होता, वे तो ससार में भी अपने को सुखी मान रहे हैं। ऐसे जीवो को ससार से छूटने का उपाय सुनना पसन्द नही आयेगा। जब तक जीव को अपनी वर्तमान अवस्था में दुख का भास न हो तब तक वह दुखों से छूटने का प्रयत्न ही क्यो करेगा ? प्रत्येक जीव दुख से छूटने का

कोई न कोई उपाय प्रतिक्षण कर रहा है। यदि संसार में भी सुख हो तो जीव संसार से मुक्त होने का उपाय किस लिये करे ?

(३८) जीव के दु:ख दूर करने के उपायों में भूल और सच्चा उपाय

संसारदशा में जीव को दुःख है, इसलिये वह प्रतिक्षण दुःख से छूटने का कोई न कोई उपाय करता है। अनादि से स्व पर को भिन्न नहीं जानता और पर वस्तुओं में से सुख प्राप्त करना चाहता है, किंतु परवस्तु में आत्मा का सुख नहीं है, इससे मिथ्या उपायों के द्वारा जीव दुःखी बना ही रहता है। सुख तो अपने स्वभाव में है, उसे जाने तो सुख प्रगट हो और दुःख दूर होजायें।

स्वादिष्ट मिठाई के खाने में सुख माना हो परंतु मिठाई खाते खाते अंत में स्वयं जीव को उससे अरुचि होजायेगी और खाने से इन्कार कर देगा। यदि मिठाई के खाने में सुख हो तो उस सुख से कोई किसलिये दूर हो ? इसलिये मिठाई खाने के ओर की जो वृत्ति है वह दुःखदायक ही है, तथापि उसमें सुख मानना सो अज्ञान है। मिठाई खाने की भांति किसी ने निद्रा में सुख माना हो, किंतु आठ या दस घण्टे सोयेगा, फिर सोना भी उसे अच्छा नहीं लगेगा। यदि सोते रहने में सुख हो तो उससे अरुचि क्यों हो ? किसी को अपनी प्रसंसा सुनने में हर्ष होता हो, किन्तु किसी समय अपनी बड़ाई सुनते सुनते वह भी ऊब जायेगा। क्योंकि यह सभी पर-

विषय हैं, उनमें कही भी सुख है ही नही। यदि ससार के किसी भी पर विषय म सुख होता तो जीव अपने ज्ञान का उपयोग वहाँ से किसलिये बदलता ? जहाँ सुख होता है वहाँ से कोई अलग नही होना चाहता। ससार के किसी भी पर-विषय में सुख नही है, इससे उपयोग को वहा स बदलते हैं और एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय पर बार बार उपयोग को घुमाते रहते हैं। ससार के किसी भी कार्य में (पर विषय म) जीव का उपयोग अधिक समय तक स्थिर नही रह सकेगा।

यथार्थ सुख आत्मा में है, उसमें अणमात्र दुःख नही है। आत्मा म ज्ञान का उपयोग स्थिर—एकाग्र होने पर सुख का वेदन होता है, इसस जीव अपने उपयोग को वहाँ से अन्यत्र नही ले जाना चाहता। जब उपयोग को आत्मा म स्थिर किया तब समस्त पर विषयो का लक्ष्य छूट जाने से भी सुख का अनुभव होता है, क्योकि आत्मा का स्वभाव ही स्वय सुखरूप है, और वह सुख सब पदार्थों से निरपेक्ष है।

अनादिकाल से जीव स्व विषय को नही जानता इसलिये पर विषयो म ही उपयोग को लगाता रहता है और दुःखी होता है। किसी पर वस्तु के ऊपर लक्ष्य जाये, वहाँ से ऊब जाता है और उपयोग को वहाँ से हटाकर दूसरी पर वस्तु म लगाता है और इन पर विषयो द्वारा दुःख दूर करना चाहता है। किन्तु उपयोग को कहाँ स्थिर करने स आकुलता दूर होकर सुख प्रगट होगा, उसका भान न होने से वह सुख का सच्चा उपाय नही करता।

परवस्तु में ज्ञान के उपयोग को लगाता है वहाँ भग पड़ता है, मन के विचारों से भी अल्प समय में ही ऊब कर उपयोग को अन्यत्र लगाता है, इससे सिद्ध होता है कि मन के अवलम्बन से भी जीव मुक्त होना चाहता है, मन के अवलम्बन से होने वाले भावों में भी सुख नहीं है। किन्तु जीव को मन के अवलम्बन से रहित स्व वस्तु का भान नहीं है इसलिये फिर से परवस्तु में ही उपयोग को लगा देता है। ऐसा कौन सा पदार्थ है कि जहाँ उपयोग को स्थिर करके एकाग्र होने से आकुलता न रहे और उपयोग वहाँ से न हटे, और कदाचित् अस्थिरता जितना हट जाय तब भी फिर से वहाँ एकाग्रता करके ज्ञान और सुख की पूर्णता कर सके ?— ऐसे निजपदार्थ के स्वरूप की अज्ञानी को खबर नहीं है, इससे संसार की ओर के उपयोग को बार-बार बदलता रहता है और अनेकप्रकार से आकुलताजन्य दुःख ही भोगता रहता है।

कहा जाता है कि—एडीसन नामक व्यक्ति फोनग्राफ के आविष्कार के विचार में सुख मानकर तीन दिन तक तत्सम्बन्धी विचार में एकाग्र रहा था, किन्तु चौथे दिन वह विचार की एकाग्रता से विचलित हो गया, क्योंकि परलक्ष्य से एकाग्र हुआ था। यहाँ स्थूलरूप से दृष्टान्त है। वास्तव में छद्मस्थ जीव का उपयोग किसी एक विषय में अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय स्थिर नहीं रह सकता।) परलक्ष्य से एकाग्र हुआ वह कहाँ तक एकाग्र रहेगा ? जो विचार पर लक्ष्य से आता है वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा दुःखों से र

होना चाहता है किन्तु संसार की ओर के उपयोग से हटकर स्व में एकाग्रता करने की खबर नहीं है। पर को जानने की इच्छा भी दुःख है। यदि स्व स्वभाव को जानकर वहाँ उपयोग को एकाग्र करे तो अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो जाये और ज्ञान पूर्ण होने से जानने की आकुलता दूर हो एवं सुख हो।

यहाँ मुख्यरूप से यह सिद्धान्त समझाया है कि आत्मा अपने उपयोग के अतिरिक्त पर में तो कुछ भी नहीं कर सकता। या तो स्वभाव की ओर का शुद्ध उपयोग करता है अथवा स्वभाव को भूलकर पर की ओर का अशुद्ध उपयोग करता है। उपयोग के अतिरिक्त आत्मा अन्य कुछ भी कभी नहीं कर सकता। अज्ञानी पर पदार्थ की ओर उपयोग को बदलता है वहाँ उसकी मान्यता में भी विपरीतता है। 'यह पर पदार्थ अनिष्ट है'–इसप्रकार सामने वाली वस्तु को बुरा मानकर अज्ञानी जीव उस ओर से उपयोग को बदल लेता है, और 'यह पदार्थ इष्ट है'–इसप्रकार सामने वाली वस्तु को इष्ट मानकर उस ओर उपयोग को लगाता है। इसप्रकार अज्ञानी जीव पर द्रव्य को जानने से उसी को इष्ट अनिष्ट मानकर अपने उपयोग के साथ राग द्वेष भी एकमेक करता है। भगवान इष्ट और स्त्री अनिष्ट–ऐसी मान्यता भी मिथ्यात्व है। ज्ञानी जीव कभी भी किसी पर द्रव्य को इष्ट मानकर राग नहीं करते और अनिष्ट मानकर द्वेष नहीं करते। अपने पुरुषार्थ की अशक्ति से जो राग द्वेष हो जाता है, उसे भी

अपना स्वरूप नहीं मानते अर्थात् वे सदा उपयोग को रागादि से भिन्नरूप अनुभव करते हैं। ऐसा भेदज्ञान ही सुख का मूल है।

आत्मा के स्वरूप में रागादि नहीं हैं परवस्तुएँ राग का कारण नहीं हैं और जो राग होता है वह चैतन्य उपयोग से भिन्न है–ऐसी वीतरागी चैतन्यदृष्टि में रागादि कब तक रह सकते हैं? वे प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं। अज्ञानी जीवों को अपने स्वभाव का ज्ञान न होने से परवस्तु को भला-बुरा मानते हैं, उसे रागद्वेष का कारण मानते हैं और रागादि को वे अपना कर्तव्य मानते हैं, उनकी ऐसी विपरीत दृष्टि में निरंतर राग द्वेष की ही उत्पत्ति है। इसप्रकार ज्ञानी और अज्ञानी के राग द्वेष में भी महान् अन्तर है।

यदि जीव पर की ओर के अशुद्ध उपयोग को छोड़कर अपने स्वभाव की ओर का शुद्ध उपयोग करे तो उसके दुःख दूर होकर सुख प्रगट हो अर्थात् अनादिकाल से स्वभाव को भूलकर जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का सेवन कर रहा है उसे छोड़कर अपने स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र प्रगट करे तो उसके अनादि संसारदुःख का अन्त हो जाये और अविनाशी मोक्ष सुख प्रगट हो। इस लिये आत्मार्थियों को सर्व उद्यमपूर्वक उसी का प्रयत्न करना आवश्यक है।

(३९) मिथ्यात्व

अपने आत्मस्वरूप सम्बन्धी भूल का मूल कारण मिथ्यात्व

ही है। अपूर्ण ज्ञान के कारण वह भूल नहीं है किन्तु मिथ्या मान्यता के कारण से ही भूल है, और उस भूल के निमित्त से अन्य गुण विकारी हो रहे हैं। समस्त बन्धों में मूल कारण मिथ्यात्व ही है और बन्धों में सर्व प्रथम मिथ्यात्व ही दूर होना है मिथ्यात्व दूर होने के पश्चात् दूसरे बंधों का अल्प काल में ही नाश हुए बिना नहीं रहता। जहां तक मिथ्यात्व होता है वहां तक अन्य कोई बन्धन दूर नहीं हो सकते। इसलिये सर्व प्रथम आत्मस्वरूप की पहिचान के द्वारा मिथ्यात्व को टालना चाहिये। बाह्य त्याग से अथवा शुभभाव करने से मिथ्यात्व दूर नहीं हो जाता किन्तु वह यथार्थ श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) से ही दूर होता है।

(४०) ज्ञानी और अज्ञानी की भावना

अपने परिपूर्ण स्वभाव की पहिचान होने से मिथ्यादृष्टि की इच्छा पर में बढ़ती है, इसलिये कहीं भी उसकी इच्छा मर्यादा को प्राप्त नहीं होती। पूर्ण स्वभाव की भावना को भूला इसलिये पर में ही पूरी भावना करता है—पर विषयों की उसके मर्यादा नहीं है। ज्ञानी को अपने परिपूर्ण स्वभाव का भान हुआ है, और उस स्वभाव में ही संतोष है इससे पर विषयों को ग्रहण करने की भावना शांत होगई है। ज्ञानी धर्मात्मा को चक्रवर्ती राज्य और हजारों स्त्रियों का संयोग हो, और राग हो तथापि किसी परविषय को ग्रहण करने की भावना नहीं है और उन विषयों में सुख की कल्पना नहीं करते। ज्ञानी वे अपने ज्ञानस्वभाव को पूर्ण करके राग को दूर करने

की भावना होती है। जहाँ स्वभाव की ही पूर्ण जानकर उसी की रुचि की है वहाँ ज्ञानी के अन्य पदार्थों की भावना कैसे हो सकती है? अज्ञानी को अपने त्रिकाल और त्रिलोक के ज्ञाता पूर्णस्वभाव की प्रतीति नहीं है, अर्थात् उसे परविषयों में रुचि है, इसलिये उसे त्रिकाल के पर पदार्थों को ग्रहण करने की इच्छा हो रही है। ज्ञानी के पर वस्तु को ग्रहण करने की इच्छा नहीं होती किन्तु ज्ञानमूर्ति पवित्र शुद्ध आत्मस्वरूप के भान में अपनी पूर्ण निर्मल आत्मपर्याय को प्रगट करने की भावना है। पुण्य की भावना भी उनके नहीं है। ज्ञानी अपने शुद्ध स्वभाव के भान और भावना को स्थिर रखकर, पुरुषार्थ की अशक्ति से निचलीदशा में राग-द्वेष में युक्त होते हैं किन्तु राग द्वेष को स्थिर रखूं या विषयों को ग्रहण करूँ—ऐसी भावना उनके नहीं रहती। राग द्वेष हो उस समय भी उसे दूर करने की सामर्थ्य द्रव्य में विद्यमान है—इस प्रकार द्रव्य की प्रतीति है और उसकी भावना है। इससे उनकी भावना राग-द्वेष में नहीं बढ़ती किन्तु राग द्वेष रहित शुद्धस्वभाव में ही भावना की वृद्धि होती है और उस स्वभाव की भावना के बल से राग द्वेष का नाश हो जाता है।

अज्ञानी के जब राग द्वेष हो उसी समय उसे दूर करने वाली सामर्थ्य की प्रतीति नहीं है इससे वह एकाकाररूप से राग द्वेष की ही भावना करता है और सब पर द्रव्यों का ग्रहण करने की इच्छा रखता है, ज्ञानी और अज्ञानी की भावना में यह मूल अन्तर है। ज्ञानी स्व पदार्थ की भावना और एकाग्रता के बल से पूर्ण हो जाते हैं और अज्ञानी पर-

पदार्थ की भावना के बल से स्व पदार्थ का अनादर करके मूर्त–जड़ के समान हो जाते हैं। जिस जिसकी भावना–रुचि होती है उसी प्रकार उसका परिणमन होता है। ज्ञानी को स्वभाव की रुचि होने से स्वभावरूप परिणमन होता है और अज्ञानी को विकार की रुचि होने से उसका परिणमन विकाररूप ही होता है।

आत्मा चैतन्यस्वरूप अरूपी वस्तु है, वह पर पदार्थों से भिन्न है। किसी भी पर पदार्थ का वह ग्रहण अथवा त्याग नहीं करता। मैं पर का ग्रहण कर सकता हूँ और त्याग कर सकता हूँ—ऐसा अज्ञानी मानता है, किन्तु वह विपरीत मान्यता है। पर का ग्रहण-त्याग कर सकता हूँ–ऐसी मान्यता जब तक रहती है तब तक उसका पर पदार्थों के प्रति राग द्वेष दूर नहीं होता और पर का ग्रहण-त्याग करने की इच्छा नहीं टलती। यह तो बाह्य पदार्थों की स्थूल बात है। वास्तव में आत्मा की पर्याय में जो शुभभाव हो उसे भी जो रखने योग्य मानता है उसे त्रिकाल के विषयों को ग्रहण करने की भावना है। पुण्य का फल जड़ का संयोग है, इसलिये जिसे पुण्य की इच्छा है उसे जड़ की इच्छा है और जिसे एक जड़ पदार्थ की इच्छा है उसके ऐसे समस्त पदार्थों की इच्छा अव्यक्तरूप से विद्यमान ही है। ऐसा जीव भले ही पंचमहाव्रत का पालन करता हो, चाहे जितना त्यागी हो और चाहे जैसी मर्यादा बाँध रखी हो किन्तु उसकी विपरीत मान्यता में त्रिकाल के विषयों का सेवन है।

अहो ! अपना स्वभाव पूर्ण है, सब प्रकार से परिपूर्ण है, उसका माहात्म्य जीव को नहीं आया ! स्वयं पात्र होकर ज्ञानियों के पास से अपने स्वभाव को यथार्थरूप से जाने तो उस अपनी महिमा आने से पर की महिमा सहज ही छूट जाये। जीव ने अपने स्वभाव की महिमा को नहीं जाना इस लिये पर की भावना की। जिसे जिसकी भावना हो वह उसी में पूर्ण की भावना करता है। पैसे की रुचिवाला पैसे का भावना की सीमा नहीं बाँधता, किन्तु जितना मिले उतना ही प्राप्त करने की भावना करता है। वैसे ही जिसने अपने पूर्ण स्वभाव को जाना है वह उसी की महिमा लाकर पूर्णता प्रगट करने की भावना करके पूर्ण सिद्ध होता है। और उस स्व स्वभाव को जिसने नहीं जाना है वह पर की भावना द्वारा पर पदार्थों को प्राप्त करना चाहता है; किन्तु पर पदार्थों को प्राप्त करना, वह अपने हाथ की बात नहीं है। किन्हीं भी पर पदार्थों को जीव ले ही नहीं सकता, इससे पर का ग्रहण करने की विपरीत भावना द्वारा जीव अपनी शक्ति को हार देता है, उसके फलस्वरूप निगोददशा होती है।

अज्ञानी का विषय ही राग है राग को रखने योग्य माना अर्थात् राग के विषयभूत परपदार्थों को भी रखना चाहता है। इसप्रकार अज्ञानी जीव परद्रव्यों और विकार के साथ सम्बन्ध स्थापित रखना चाहता है किन्तु असंयोगी ज्ञान स्वभाव के लक्ष्य से उस सम्बन्ध को तोड़ता नहीं है। ज्ञानियों ने स्वभाव के साथ एकता प्रगट करके विकार और पर वस्तुओं

के माथ का सम्बन्ध तोड दिया है। ज्ञानी को अपने ज्ञाता–विज्ञान द स्वरूप का ज्ञान है और दृष्टि में वही स्वभाव आदरणीय है, परविषय कभी भी आदरणीय नही है। उनके अनन्तानुबन्धी राग द्वेष का अभाव तो होगया है, अब जो अल्प राग-द्वेष शेष रहा है उसमें भी पर द्रव्यो का ग्रहण या त्याग करना तो मानते ही नही।

कोई ज्ञानी हजारो स्त्रियो के सयोग का उपभोग करते हुए दिखाई दें, किन्तु जड स्पर्श और उसके प्रति राग—इन दोनो को वास्तव में वे नही भोगते, परन्तु अपने अस्पर्शी ज्ञानभाव का ही उपभोग करते हैं। जो राग है उसे दोषरूप जान लेते हैं। राग की भावना नही है, किन्तु स्वय अमृत स्वभाव में परिणमित होकर पूर्ण की भावना करते हैं। अज्ञानी जीव स्पर्श को और उसके प्रति राग को भोगता मानते है, जिनके एक भी स्पर्श को भोगने की भावना है उन्हें त्रिकाल के स्पर्श का उपभोग करने की भावना है, क्योंकि उनकी दृष्टि ही अस्पर्शी आत्मा को भूलकर स्पर्श पर गई है।

'यह स्पर्श भोगने योग्य है'—इसप्रकार अज्ञानी जीव जड स्पर्श को भोगता मानते हैं, इससे उनका पुरुषार्थ स्पर्शादि पर द्रव्या के प्रति राग में रुक गया है, किन्तु वे अपने पुरुषार्थ को स्वभावोन्मुख नही करते। ज्ञानी जीव ऐसा मानते हैं कि 'मैं पर स्पर्श का उपभोग कर ही नही सकता'—इससे स्पर्शादि परद्रव्यो के प्रति राग के पुरुषार्थ का बल नष्ट हो

गया है और अपने स्वभाव की भावना द्वारा पुरुषार्थ को स्वो मुक्त किया है।

अज्ञानी को स्वभाव की रुचि छूटकर राग की रुचि है, इससे बाह्य में वह सर्वस्व-त्यागी दिखाई देता हो तब भी अन्तरंग मे राग की और राग के फल की रुचि होने से उसी समय तीनलोक के विषयों को भोगने का अभिप्राय विद्यमान है। ज्ञानी के मात्र आत्मस्वभाव की ही रुचि है, उसके बाह्य में छह खण्ड के राजपाट का संयोग होने पर भी रुचि में तो उस सबसे अलिप्त ही है, उसकी रुचि किसी परद्रव्य में नहीं उलझती। पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण ज्ञानी के भी आसक्ति हो, किन्तु पर का उपभोग करने की भावना नहीं है, और राग की भी भावना नहीं है।

श्री वीतराग की वाणी का श्रवण भी पर विषय है और स्त्री भी पर विषय है, ज्ञानी के किसी भी पर विषय की रुचि नहीं है। वीतराग की वाणी के श्रवण की भी भावना ज्ञानी के नहीं है। अशुभराग को दूर करते करते से शुभराग आय और वीतराग की वाणी का श्रवण करे तथापि उस समय भी ऐसी भावना है कि—इस शुभराग और वाणी का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव में स्थिर होजाऊँ। अज्ञानी जीव स्त्री को बुरा और भगवान की वाणी को अच्छा मानकर परविषय मे दो भेद करता है, परन्तु मेरे स्वभाव से समस्त परविषय भिन्न हैं— इसप्रकार वह स्व पर के भेद को नही जानता। अज्ञानी को श्रवण की और उसके राग की भावना है, जिसके वीतराग की

वाणी को श्रवण करने की जो रुचि है उसके लक्ष पर विषयों के अवलम्बन की भावना है, किन्तु पर विषय से हटकर स्वरूप का लक्ष करने की भावना नहीं है। ज्ञान का आत्मस्वरूप का लक्ष है, इससे वीतराग की वाणी को श्रवण करने की रुचि नहीं है।

मुख्य दो दिशाएं हैं—या तो आत्मस्वभाव की मुख्यता, अथवा विषयों की मुख्यता। यदि पर पदार्थों को जान लूं तो मेरा ज्ञान और सुख प्रगट हो—ऐसी अज्ञानी की मान्यता है और इससे उसके निरन्तर विषयों की ही मुख्यता है। ज्ञानी के ऐसी भावना है कि अन्तरस्वभाव में एकाग्र होऊं तो ज्ञान और सुख प्रगट हो, इसलिये उसके निरन्तर स्वभाव की मुख्यता है।

अपने ज्ञान में त्रकालिक आत्मस्वभाव की मुख्यता और विकारादि की गौणता करना सो सम्यग्ज्ञान है और अपने ज्ञान में विकारादि की मुख्यता करना तथा शुद्धस्वभाव को भूल जाना सो अज्ञान है।

(४१) इच्छाएं दूर करने के लिये ज्ञानी और अज्ञानी की मान्यता का महान् अन्तर

अज्ञानी ऐसा मानता है कि मेरे जो कुछ भी इच्छा होती है, उसका दुःख परवस्तु का ग्रहण करने से दूर हो जायगा। जिस परवस्तु के लक्ष से इच्छा होती है उस परवस्तु को प्राप्त कर लूं तो मेरी इच्छा दूर हो जावेगी और शांति होगी,

अज्ञानी जीव विषयो का ग्रहण करके इच्छाओं को शात करना चाहता है, अर्थात् इन्द्रियाँ पुष्ट रहें तो विषय ग्रहण करने की शक्ति बढे–ऐसा मानकर अनेक उपायो द्वारा इन्द्रियो की पुष्टि करना चाहता है। अब, इन्द्रियो द्वारा प्रवर्तमान ज्ञान तो अपने सन्मुख हुए विषयो का ही किंचित् ग्रहण कर सकता है, इससे अज्ञानी अनेक उपाय करके इन्द्रियो का और उनके विषयों का सयोग करना चाहता है, और इससे इच्छा को शात करने के लिये इन्द्रियो की पुष्टि, पर विषयो का सयोग और उनका उपभोग करना चाहता है। इन उपायो से तो आकुलता उल्टी बढ़ती है। पर तु उस मूढ जीव की दृष्टि पर के ऊपर ही है, विषय सेवन की भावना में आत्मा के विचार का अवकाश ही उसे नही मिलता। यदि अशमात्र भी विचार बढ़ाकर आत्मा की ओर देखे तो उसे ध्यान आये कि ज्यो ज्यो मैं पर-विषयो को प्राप्त करने की और उन्हे भोगने की भावना करता हूँ त्यो त्यो इच्छा शान्त नही होती किन्तु उल्टी बढती जाती है। इसलिये इच्छा शान्त करने का उपाय विषयग्रहण नही, किन्तु अन्य कोई उपाय है।

ज्ञानी ऐसा समझते है कि इन्द्रिय विषयो के सन्मुख होने से मुझे यह इच्छा हुई है, यदि मैं आत्मसन्मुख होऊँ तो यह इच्छा नष्ट हो जायेगी। सयोग हो अथवा न हो, और इन्द्रियाँ भी हो या न हो–मेरी इच्छा का शान्त होना उनके आधीन नहीं है। ऐसी भावना होने के कारण ज्ञानी के इन्द्रियाँ, उनके विषय और उनकी ओर का राग—सबकी

भावना नहीं होती, किन्तु मात्र आत्मस्वभाव की एकाग्रता की भावना होती है। तथापि ज्ञानी के संयोग हो और आसक्ति का राग भी हो, किन्तु किसी परवस्तु को भोगने की भावना उनके नहीं होती, रुचि नहीं होती। आसक्ति का राग होना वह वर्तमान जितना अल्प दोष है, किन्तु उसमें अभिप्राय का दोष नहीं है। और पर की रुचि होना सो महान् दोष है, उसमें अभिप्राय की ही भूल है।

अज्ञानी के जब इच्छा हुई तब उसने उस इच्छा को जाना और परविषयों को भी जाना, किन्तु उस समय इच्छा और परवस्तु से भिन्न—ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव की एकाग्रता-पूर्वक ज्ञान करना चाहिये, उसके बदले स्वभाव को भूलकर इच्छा में और परविषयों में एकाग्र हो जाता है इसलिये उसका ज्ञान मिथ्या है, क्षणिक है, वह अल्पकाल में ही नाश हो जायगा। यदि स्वभाव के लक्ष्य से ज्ञान करे तो वह ज्ञान सम्यक् हो और स्वभाव की एकता वाला होने से वह निरंतर स्थिर रहे।

ज्ञानी के जब इच्छा हुई तब उन्होंने उस इच्छा को जाना, परविषयों को भी जाना और उसी समय इच्छा और परविषयों से भिन्न स्वभाव को भी जाना। वहाँ अपने स्वभाव की एकता को स्थिर रखकर इच्छादि को जान लिया, किन्तु उनकी भावना नहीं की, इसलिये उस समय भी उनके सम्यक् ज्ञान में वृद्धि हुई और इच्छा नष्ट हो गई।

दुःख दूर करने के अज्ञानी के

क्योंकि–इन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण होने से मेरी इच्छा पूर्ण होगी—ऐसा जानकर प्रथम तो वह अनेक प्रकार के भोजनादि के द्वारा इन्द्रियों को प्रबल बनाना चाहता है और ऐसा ही जानता है कि यदि इन्द्रियाँ प्रबल रहें तो मुझमें विषय ग्रहण करने की शक्ति बढ़े। इन्द्रियों को प्रबल करने के लिये अनेक बाह्य कारणों को प्राप्त करना चाहता है। इन्द्रियाधीन प्रवर्तन करता हुआ ज्ञान तो अपने सम्मुख हुए विषयों का ग्रहण कर सकता है, इससे वह अनेक बाह्य प्रयत्नों द्वारा विषयों और इन्द्रियों का संयोग करना चाहता है। अनेक प्रकार के भोजनादिक का संयोग जुटाने के लिये अत्यन्त खेद खिन्न होता है। जब तक वे विषय इन्द्रियसम्मुख रहते हैं तब तक तो उनका किंचित् स्पष्ट जानपना रहता है, किन्तु पश्चात् मन द्वारा स्मरण मात्र ही रहता है और काल व्यतीत होने पर वह स्मरण भी मंद होता जाता है–इससे उन विषयों को अपने आधीन रखने का प्रयत्न करता है और प्रतिक्षण उनका ग्रहण करता रहता है। इन्द्रियों द्वारा तो एक समय में किसी एक ही विषय का ग्रहण होता है, किन्तु यह जीव अनेक प्रकार के विषयों को ग्रहण करने की इच्छा रखता है इससे शीघ्रतापूर्वक एक विषय को छोड़कर दूसरे को ग्रहण करता है और उसे छोड़कर अन्य को लेता है। इस प्रकार विषयों के अर्थ से दुःखी रहता है और स्वयं को जैसा भासित हो वैसा ही उपाय किया करता है, किन्तु अज्ञानी के वे सभी उपाय व्यर्थ हैं।

अपनी इच्छानुसार बाह्य वस्तुओं का संयोग होना अपने

आधीन नही है और कदाचित् उस प्रकार का सयोग हो जाय तो भी उसका शक्तित्व बढना, वह कही इन्द्रिया की प्रबलता से नहीं होता, किन्तु अपने ज्ञान–दर्शन की विकास शक्ति म वृद्धि कर तो शक्तित्व बढे। किसी का शरीर पुष्ट होने पर भी उसमें ऐसी शक्ति अल्प देखने में आती है और किसी का शरीर दुर्बल हो तथापि उसमें ऐसी शक्ति अधिक दिखलाई देती है। इसलिये भोजनादि क द्वारा इन्द्रियो को पुष्ट करने से कुछ भी सिद्धि नही होती। किन्तु कषायादिक कम होने से ज्ञान–दर्शन मे वृद्धि होती है और उसी समय विषयग्रहण शक्ति बढती है। अज्ञानी जीव विषयो का ग्रहण करके इच्छा को शांत करना चाहते हैं–उन्हे समझाने के लिये यहाँ कहा है कि हे भाई ! विषयों का ग्रहण भी ज्ञान दर्शन शक्ति के बढने से ही बढता है, इसलिये तू अपने ज्ञान दर्शन को सभाल। और फिर, विषयो का सयोग मिलता है वह अधिक समय तक स्थिर नहीं रहता, तथा समस्त विषयो का सयोग भी नहीं मिलता, इससे जीव के उसकी आकुलता ही बनी रहती है, और उन विषयो को अपने आधीन रखकर जल्दी जल्दी ग्रहण करना चाहता है, किन्तु वे अपने आधीन नहीं रहते, क्योंकि "यह भिन्न द्रव्य स्वय अपने अपने आधीन परिणमन करते हैं।" यह जीव अत्यन्त व्याकुल होकर सब विषयों को युगपत् ग्रहण करने के लिये आकुल रहता है और एक विषय को छोडकर दूसरे को ग्रहण करने के लिये भी यह जीव दौड धूप करता है, किन्तु परिणाम म उसके इच्छा रूपी रोग ज्यों का त्यों ही रहता है और वह दुखी होता

रहता है, जैसे 'ऊँट के मुह में जीरा डालने से क्या उसकी भूख शात हो जायेगी ? नही होगी, वैसे ही जिस सब विषयो को ग्रहण करने की इच्छा है उसके एक विषय का ग्रहण होने से किसप्रकार इच्छा दूर होगी ? और इच्छा शात हुए बिना सुख भी नही होगा, इसलिये अज्ञानी के यह सभी उपाय व्यर्थ हैं ।

स्वयं समस्त पर विषयो को ग्रहण करने की इच्छा करता है किन्तु उन सबको एकसाथ ज्ञात करने का सामर्थ्य अपने मे प्रगट नही हुआ है । यदि इच्छा तोडकर ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता करे तो केवलज्ञान प्रगट हो और उसमे एकसाथ ही सब पदार्थों का ग्रहण हो जाये, इससे उसकी विषय ग्रहण की आकुलता नष्ट हो और सम्पूर्ण सुखी हो जाये । अज्ञानी वास्तव मे पर विषयो को ग्रहण नही कर सकता, मात्र उन्हे जानता है और उनमे एकत्वबुद्धि से राग करता है, तथा पर को ग्रहण करने की विपरीत मान्यता से आकुलता द्वारा दुःखी होता है । ज्ञानियो ने पर के साथ की एकत्वबुद्धि को छोड दिया है, इसलिये उनके पर का ग्रहण करने की मान्यतापूर्वक के सब राग-द्वेष नष्ट हो गये हैं और ज्ञानस्वभाव के ग्रहण द्वारा (एकाग्रता द्वारा) ज्ञानको क्रमशः बढ़ाकर केवलज्ञान प्रगट करते हैं, वहाँ समस्त पदार्थ ज्ञान में एक ही साथ ज्ञात होते हैं । इससे सभी विषयो का ग्रहण (ज्ञान) करने के लिये भी स्वभाव की एकाग्रता ही उपाय है । समस्त लोक किसी को मिलना नही है किन्तु उसका ज्ञान तो प्रत्येक जीव कर सकता है ।

प्रश्न —विषय ग्रहण के द्वारा हम कई जीवों को सुखी होता देखते हैं, तो फिर आप उस उपाय को सर्वथा झूठा कैसे कहते हैं ?

उत्तर—विषय-ग्रहण से तो वे जीव सुखी नहीं होते किन्तु भ्रमवश उससे सुख मानते हैं। यदि वे विषय ग्रहण के द्वारा सुखी हुए हों तो उनको अन्य विषयों की इच्छा कैसे रहे ? जैसे रोग मिट गया हो तो फिर दूसरी औषधि कोई किसलिये खाये ? वैसे ही, दुःख दूर होने के पश्चात् अन्य विषय की इच्छा वह किसलिये करे ? यदि विषय ग्रहण करने के पश्चात् इच्छा शान्त हो—रुक जाय तो उस जीव को सुखी कहा जाये, किन्तु वह तो जब तक इच्छित विषयों का ग्रहण नहीं होता तब तक विषयों की ही इच्छा करता रहता है, एक क्षण भी इच्छा बिना नहीं निकलता। उसे सुखी कैसे माना जाये ? जैसे कोई क्षुधातुर भिखारी अपने को अन्न का एक कण मिलने से उसका भक्षण करके सुख माने, उसी प्रकार यह महा तृष्णावान जीव किसी एक विषय का निमित्त मिलने से उसका ग्रहण करके सुख मानता है, किन्तु वास्तव में यह सुख नहीं है।

प्रश्न —जैसे एक एक कण मिलने पर अपनी भूख शान्त होती है वैसे ही एक एक विषय का ग्रहण करके अपनी इच्छा पूर्ण करे तो इसमें क्या दोष ?

उत्तर —यदि सभी दाने एकत्रित हो जायें तो ऐसा ही मान सकते हैं, किन्तु दूसरा दाना मिलने से प्रथम दाने का

निगमन हो जाये तो भूख कैसे मिटे ? उसी प्रकार जानने में विषयों का ग्रहण यदि एकत्रित होता जाये तो इच्छा पूर्ण हो, किन्तु जब दूसरे विषय को ग्रहण करता है तब पहले जो विषय ग्रहण किया था उसका ज्ञातृत्व नहीं रहता, तो इच्छा किस प्रकार पूर्ण हो ? इच्छा पूर्ण हुए बिना आकुलता नहीं मिटती और आकुलता मिटे बिना सुखी नहीं कहलाता। यदि जीव स्व पर का भेदज्ञान करे तो उसका ज्ञान क्रमशः विकसित होता जाता है और अंत में पूर्ण ज्ञान में समस्त विषय एक ही साथ ज्ञात होते हैं, और वहाँ आकुलता नहीं रहती। किन्तु स्वभाव को भूलकर मात्र पर को जानता है—वह ज्ञान क्षणिक है। स्वभावाश्रित ज्ञान नित्य में मिल जाता है।

और एक विषय का ग्रहण होता है वह भी यह जीव मिथ्यादर्शनादिक के सद्भावपूर्वक करता है, और उससे उल्टा ज्ञानादि गुणों का विशेष आवरण करता है। श्री प्रवचन सार में अध्याय १ गाथा ७६ में कहा है कि—इन्द्रियों से प्राप्त हुआ सुख पराधीन, बाधायुक्त, विनाशीक, बंध का कारण और विषम है, इससे वह सुख वास्तव में दुःख ही है। इस प्रकार संसारी जीव अनादिकाल से जो उपाय कर रहा है वे मिथ्या ही हैं।

तो सच्चा उपाय क्या है ? यदि अपने स्वभाव की एकाग्रता से इच्छा दूर हो और एकमात्र सब विषयों का ग्रहण रहे तो यह दुःख दूर हो। अब, आत्मस्वरूप की एकाग्रता तो उसकी पहिचान करने से ही होती है, इच्छा तो मोह के जाने

स ही मिलती है और सबका एकताय ग्रहण तो केवलज्ञान ज्ञान स ही होता है। इससे उसका उपाय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही है, उसमें भी मुख्य सम्यग्दर्शन है। यही दुःख को दूर करने का और सुख प्रगट करने का यथार्थ उपाय जानना चाहिये।

(७२) ज्ञान दुःख का कारण नहीं है किन्तु मोह दुःख का कारण है।

क्षायोपशमिक ज्ञान दुःख का कारण नहीं है किन्तु इच्छा ही दुःख का कारण है। पदार्थों का जानना दुःख का कारण नहीं है किन्तु मोह से विषय ग्रहण की जो इच्छा होती है वही दुःख का मूल कारण है। ज्ञान यदि स्वयं दुःख का कारण हो तो ज्यों ज्यों ज्ञान में वृद्धि हो वैसे ही दुःख भी बढ़ना जाय और ज्ञानरहितता सुख का कारण सिद्ध हो। वैसा होने से जड़ को भी पूर्ण सुख मानना पड़ेगा। किन्तु ज्ञान तो अपना स्वाभाविक भाव है वह दुःख का कारण नहीं है किन्तु क्षायोपशमिक ज्ञान के साथ जितना मोह मिश्रित है उतना ही दुःख है।

प्रश्न—किसी का पुत्र परदेश में हो और वहाँ उसकी मृत्यु हो गई हो, किन्तु जब तक उस मनुष्य को पुत्र की मृत्यु सम्बन्धी ज्ञान न हो तब तक उसे उस सम्बन्धी दुःख नहीं होता, और जब उसे पुत्र की मृत्यु का ज्ञान होता है तब उसी समय दुःख होता ... ही दुःख का कारण है?

उत्तर —नही, वहाँ ज्ञान दुःख का कारण नही है किन्तु पुत्र के प्रति जो मोह है—वही दुःख का कारण है। यदि ज्ञान दुःख का कारण हो तो जिस जिसको उसके पुत्र की मृत्यु का ज्ञान हुआ, उन सबको बराबर दुःख क्यो नही होता ? जिसे जितना मोह है उसे उतना ही दुःख होता है। जिस समय उस मनुष्य को पुत्र की मृत्यु का ज्ञान हुआ उसी समय उस मनुष्य ने अतरग भान द्वारा वैराग्य लाकर मोह न किया होता तो उसे ज्ञान होने पर भी दुःख नही होता, क्योकि दुःख का कारण ज्ञान नही किन्तु मोह है। मिथ्यादृष्टि ऐसा मानता है कि जाना इसलिये दुःख हुआ, अथवा पुत्र की मृत्यु हुई इसलिये दुःख हुआ—यह दोनो बातें मिथ्या हैं। जितना मोह करता है उतना ही दुःख होता है—यही एक सिद्धान्त है। सयोगी पदार्थों के प्रति मोह से जो दुःख होता है उस दुःख को टालने का उपाय परवस्तु का सयोग प्राप्त करना नही है, और इन्द्रियो की या इच्छा की पुष्टि भी उपाय नही है। वास्तविक उपाय तो यह है कि सयोगी पदार्थों की दृष्टि छोडकर असयोगी ज्ञानस्वरूप आत्मा की दृष्टि और एकाग्रता करे तो दुःख दूर हो। ससार की किसी भी वस्तु में इस आत्मा का सुख नही है, सुख तो अपने आत्मा की दृष्टि करने से ही प्रगट हो सकता है।

प्रश्न —कोई जीव सो रहा हो और उसी के पास सर्प बैठा हो, जब कोई उसे जगाये और कहे कि भाई, तेरे पास सर्प बैठा है, तब उसे तुरन्त ही भय होता है। जब तक

सर्प का ज्ञान नहीं था तबतक उसे भय नहीं था, इसलिये ज्ञान से ही भय हुआ, इसप्रकार ज्ञान को ही दुःख का कारण मानना पडेगा ?

उत्तर —नहीं, ज्ञान दुःख का कारण है ही नहीं। उस मनुष्य को सर्प का ज्ञान करने से भय नहीं हुआ, किन्तु शरीर के ममत्व के कारण ही भय हुआ है। सोते समय उसे कम दुःख था और सर्प का ज्ञान होने से दुःख बढ गया— ऐसा नहीं है। सोते समय शरीर की जितने अंश में ममता है उतने ही अंश में उसके प्रतिकूलता का भय भी अव्यक्तरूप से विद्यमान ही है। पहले अनुकूलता के राग की मुख्यता थी अब प्रतिकूलता के द्वेष की मुख्यता है किन्तु दोनो समय जितने अंश में ममत्व है उतने ही अंश में दुःख है। यदि सर्प का ज्ञान दुःख का कारण हो, तो उसी सर्प को कोई मुनि देखें, किन्तु उन्हें किंचित् भय क्यों नहीं होता ? क्योंकि उन्हें शरीर पर ममत्व नहीं है, इससे प्रतिकूलता का भय नहीं है। जिस मनुष्य को सर्प की उपस्थिति में भय होता है उसे सर्प की अनुपस्थिति के समय भी अपनी ममता के कारण दुःख का वेदन तो था ही। जिसे जितने अंश में अनुकूलता की प्रीति हो उसे उतने ही अंश में प्रतिकूलता का भय अथवा द्वेष होता ही है।

(४३) दुःख के दो प्रकार

संसारी जीवो के दुःख के मुख्यरूप से दो भाग होते हैं।

१—अपने स्वभाव को भूलकर मिथ्यादृष्टि जीव संयोगी

में से सुख लेना चाहता है, किन्तु सयोग उसके आधीन नही हैं इसलिये वह प्रतिक्षण आकुल व्याकुल होता है और दुखी ही रहता है। ऐसे जीवो को एकात दुख है, स्वाभाविक सुख का वे अशत अनुभव भी नही करते, उनके प्रतिक्षण अनन्त दुख है।

२—अपना स्वभाव ही परिपूर्ण सुखरूप है—ऐसा ज्ञानी जीवो ने जाना है, इससे वे किन्ही सयोगो में सुख नही मानते, और चाहे जैसे सयोग के समय भी उनके स्वाभाविक सुख का अशत अनुभव तो प्रवर्तमान रहता ही है, तथापि अभी जब तक सम्पूर्ण स्वरूपस्थिरता न हो तब तक इन्द्रिय विषयो की आसक्ति से राग-द्वेष होता है—उतने अश में वे भी दुखी ही हैं। किन्तु वह दुख अल्प है।

अज्ञानी को तो सुख-दुख के अन्तर की ही खबर नही है, वह तो अनुकूल सयोगो को ही सुख मानता है, उसके वास्तव में दुख कम नही होता। ज्ञानीजन ही सुख दुख के अन्तर को जानते हैं, और उनके ही दुख कम होता है। आत्मा की यथार्थ पहिचान के पश्चात् ज्यो ज्यो वीतरागभाव की वृद्धि होती है त्यो त्यो दुख दूर होता है।

(४४) प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता

अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि मैं परवस्तु का सयोग प्राप्त कर सकता हूँ,—वह तो स्थूल भूल है। और कर्मोदय के कारण सयोग प्राप्त होता है—यह बात भी यथार्थ नही है। प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है इसलिये प्रत्येक परमाणु के सयोग वियोग

की क्रिया स्वयं अपने से स्वतंत्र ही होती है, उसका कर्ता कोई अन्य पदार्थ नहीं है। आत्मा तो परवस्तु के संयोग वियोग का कर्ता नहीं है, किन्तु कर्म के कारण संयोग वियोग होता है—ऐसा कहना भी निमित्त का कथन है। संयोग-वियोग का कर्ता जीव नहीं है—ऐसा सिद्ध करने के लिये निमित्त से कर्म को उसका कर्ता कहा है, वहाँ कर्म का होना (अस्तित्व) सिद्ध किया है। वस्तुस्वभाव से देखें तो परवस्तुएँ कर्म के आधीन परिणमित नहीं होतीं। जगत की कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तु के आधीन नहीं है। परवस्तु ऐसी पराधीन नहीं है कि आत्मा इच्छा करे उसके कारण से वह आजाय। आत्मा राग द्वेष करे और कर्म बंध हो वहाँ वास्तव में आत्मा ने राग द्वेष किया इसलिये कर्म बंधे—ऐसा नहीं है किन्तु परमाणु ही अपनी स्वतंत्र योग्यता से उस समय स्वयं कर्मरूप परिणमित हुए हैं। ऐसे स्वाधीन वस्तुस्वभाव का ज्ञान ले तो जीव की स्वभावदृष्टि हो और संयोगदृष्टि दूर हो जाये।

(४५) परद्रव्य में कुछ भी करने की इच्छा की निरर्थकता और उसे छोड़ने की प्रेरणा

हे जीव! तू अपने स्वभाव को भूलकर भी परद्रव्य में कुछ भी करने को समर्थ नहीं है। तू अपने भाव में अनुकूल सामग्री प्राप्त करने की इच्छा कर, किन्तु तेरे इच्छा करने से परद्रव्यों का संयोग आजाय—ऐसा कुछ नहीं है, अर्थात् तेरी परद्रव्यों सम्बन्धी इच्छा प्रतिक्षण व्यर्थ चली जाती है। जिस वस्तु का जिस प्रकार जिस समय जैसा संयोग होना है,

उस वस्तु का उसी प्रकार उसी समय वैसा ही सयोग वियोग होगा। वस्तु के स्वतन्त्र परिणमन को कोई नही रोक सकता। तू चाहे जिस प्रकार माथापच्ची कर और सकल्प विकल्प कर, उससे कही अनुकूल सामग्री नही आ जायेगी। इसलिये हे भाई! तू परद्रव्यो में कुछ भी परिवर्तन करने की अपनी व्यर्थ मान्यता को छोड! क्योंकि तेरी इस मान्यता से तुझे ही दुख होता है। परद्रव्यो का चाहे जो हो, उनके कर्तृत्व की मान्यता छोड़कर तू अपने स्वभाव की दृष्टि से सबका निर्विकल्प रूप से ज्ञाता रह—यही तुझे शांति का कारण है। परवस्तु के परिणमन मे—"ऐसा क्यो ?" इसप्रकार का विकल्प करना भी तेरा कर्तव्य नही है। सभी द्रव्य अपने स्वरूप मे परिणमन करते हैं, कोई द्रव्य अपने स्वरूप से बाहर परिणमित नही होता, तू भी अपने ज्ञानस्वभाव में ही परिणमित हो। अनादि से ज्ञानस्वरूप को भूलकर पर के लक्ष्य मे विकाररूप परिणमन कर रहा है—वही दुख का कारण है।

(४६) स्वभावसुख का नित्यत्व और सयोगो में सुख की कल्पना का अनित्यत्व

अपने नित्यस्वभाव के लक्ष्य से जो सुख प्रगट होता है, उसमे जीव नि शक होता है कि—चाहे जैसे सयोग आयें तो भी मेरा सुख तो मेरे स्वभाव में से ही प्रगट होता है। और अज्ञानी स्वय जिन सयोगो मे सुख की कल्पना करता है उनमे भी उसे शका रहती है कि सदैव ज्यो का त्यो सयोग

रहेगा या नहीं । सयोग तो अनित्य हैं । कदाचित् अपनी इच्छानुसार सयोग मिल जायें तो भी उसमे जीव का सुख नहीं है किन्तु सयोग के लक्ष्य मे पराधीनता और आकुलता का दुःख ही है । जिन सयोगो में सुख की कल्पना की होगी उनके बदलने पर उसके सुख की कल्पना भी बदल जायगी ।

(४७) यथार्थ समझ वहाँ समाधान, विपरीत समझ सो आपत्ति

किसी के करोडों की सम्पत्ति हो, किन्तु पुत्र की इच्छा है ! और किसी के पुत्र है तो धन की आकांक्षा है ! तथा किसी के यह दोनों हैं, किन्तु उसके रक्षण—समालने की चिता ! वास्तव में इस जीव को किसी पर द्रव्य के कारण आपत्ति नही है किन्तु स्वय अपनी कल्पना से ही आपत्ति खडी करता है । अपने स्वभाव मे सताष न आया और पर मे से सुख प्राप्ति की वृत्ति उठी वही सब से महान आपत्ति है । जहाँ यथार्थ समझ में भूल है वहाँ सभी वस्तुओ में आपत्ति है । चाहे जसा सयोग हो किन्तु उसकी आपत्ति कभी दूर नहीं होती । और आत्मा की यथार्थ प्रतीति होने पर समस्त सयोगो पर से दृष्टि उठ जाती है, उसके अपने नित्य स्वभाव के लक्ष्य से निरतर समाधान रहता है और सयोगो की आपत्ति दूर हो जाती है । चाहे जसा सयोग हो किन्तु उसका समाधान विचलित नही होता ।

(४८) विषयों का अर्थ क्या, और वे कब दूर ... ?

अज्ञानी जीव बाह्य में पर वस्तु का

मानता है कि मन विषय छोड दिये । किन्तु भाई ! शुद्ध आत्मा के भान बिना कहाँ एकाग्रता करके तूने विषयों को छोड़ा ?

अपने असग चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से च्युत होकर जितने भी भाव होते हैं वे सब विषय ही हैं। परद्रव्य का सयोग वियोग तो परद्रव्य के कारण से होता है, आत्मा अपने मे जो विकारी भाव करता है वही विषय है, इन विषयों से रहित अपना स्वभाव है–ऐसी पहिचान जब तक न हो तब तक जीव यथार्थरूप से विषयों को नहीं छोड सकता।

(४६) स्वरूपदृष्टि और सयोगीदृष्टि

हे जीव ! तेरा सुख तुझमे ही है, उसे भूलकर तू बाह्य मे सुख ढूढने का प्रयत्न करता है, उससे कुछ होने वाला नही है। तू अतर्दृष्टि से अपने स्वभाव को देख। मैं आत्मा ज्ञानानन्द सुखधाम हूँ उसकी पहिचान करूँ, रुचि करूँ और उसमे लीन होऊँ तो सुखानुभव हो। मैं स्वय मे ही प्रतिक्षण परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप–सुख स्वरूप हूँ–इस प्रकार अपने स्वभाव की दृष्टि मे ज्ञानी के उसी क्षण पूर्ण हो जाने की भावना है। किन्तु अज्ञानी का ऐसी मान्यता है कि मैं परपदार्थों से सुख भोग लूँ इसमे उसे पर विषयों को एकसाथ ग्रहण करने की तीव्र आकुलता है। स्वरूपदृष्टि मे स्वभाव की पूर्णता की भावना है और वह स्वाधीन होने से हो सकती है। सयोगदृष्टि मे सभी सयोग एकत्रित करने की भावना है किन्तु वह अपने आधीन नही है, इससे सयोगदृष्टि मे सदैव आकुलता का ही वेदन होता रहता है, और स्वरूपदृष्टि मे निराकुलता है।

(५०) स्वभाव के आश्रय से साधक की निःशंकता

संयोग प्राप्त करूँ तो सुख मिलेगा,—ऐसा जो मानता है उसे आत्मस्वभाव में सहजसुख है—उसकी रुचि नहीं है। और जिसे स्वभावसुख की रुचि है उसे अपने सुख के लिये जगत के किसी संयोग की चिंता नहीं है। जगत में जो होना होगा वह होगा, चाहे जैसा हो किन्तु मुझे अपना आत्मधर्म करने का यह अवसर नहीं छोड़ना है। जो संयोग वियोग होना है उसे बदलने को कोई त्रिकाल में भी समर्थ नहीं है। कोई संयोग वियोग मेरी स्वपरिणति को बदल सके ऐसा नहीं है। प्रथम ऐसा विश्वास होना चाहिये कि जो संयोग वियोग होना है, वह वस्तुस्वरूप की मर्यादानुसार होता है। मेरी पर्याय किसी संयोग के आधीन नहीं होती किन्तु मेरे त्रैकालिक स्वभाव से ही वह आती है। इसप्रकार जिसके स्वभावदृष्टि हुई है वह साधक है। साधक ऐसा निःशंक होता है कि मेरे साधक स्वभाव का विघ्न करने वाली कोई वस्तु इस जगत में नहीं है। मैंने अपने स्वभाव के आश्रय से जो साधकभाव प्रगट किया है उस भाव को तोड़ने में कोई भी संयोग समर्थ नहीं है। मैं अपने स्वभाव के ही आश्रय से अपने साधकभाव को पूर्ण करके पूर्ण सिद्धदशा प्रगट करूँगा। उसमें विघ्न डालने के लिए जगत के कोई भी परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव समर्थ नहीं हैं। ऐसी निःशंकता कब आती है? प्रथम तो श्रद्धा में यह बात बैठना चाहिये कि—संयोग वियोग कोई मेरे आधीन [illegible] स्वभाव की महिमा आना चाहिये। साधक

के कारण राग द्वेष होते अवश्य हैं, किन्तु वे राग द्वेष मेरे साधक स्वभाव को रोकेंगे—ऐसी शंका नहीं होती। साधक तो स्वभाव के आश्रय से निःशंकतापूर्वक आगे ही बढ़ते हैं।

(५१) स्वभाव की और संयोग की भावना का फल

जीव ज्ञानस्वभाव में स्वयं से परिपूर्ण है, जिसे अपने पूर्ण स्वभाव की दृष्टि है वह पूर्णता प्रगट करने की ही भावना करता है, किन्तु परद्रव्यों की भावना नहीं करता। और जिसे अपने पूर्ण स्वभाव की दृष्टि नहीं है वह संयोग की पूर्णता की भावना करता है, किन्तु स्वभाव की भावना नहीं करता, उसकी दृष्टि में विपरीतता है। जिसे स्वभाव की पूर्णता का भान है वह उसके माहात्म्य द्वारा क्रमशः विकास करके पूर्णता प्रगट करता है और जिसे स्वभाव की पूर्णता का भान नहीं है किन्तु पर की भावना है वह जीव अपनी विपरीत दृष्टि के द्वारा स्वभाव की विराधना करके क्रमशः अपनी पर्याय को हीन करते करते विपरीत दृष्टि के फलस्वरूप निगोदपर्याय को प्राप्त करता है।

(५२) जीव को क्या करना है?

जगत की स्व और पर समस्त वस्तुएँ तो जैसी हैं वैसी ही हैं, वस्तु को नवीन नहीं करना है और न उसे परिवर्तित करना है। किन्तु स्व और पर वस्तुओं को यथार्थरूप से जानकर, अपना जो उपयोग अनादिकाल से पर की ओर है उसे स्व की ओर उन्मुख करना है और जो अनादि से पर में अपनत्व की मान्यता कर रहा है उसे छोड़कर शुद्ध स्व

मात्र में ही अपनापन मानना है एवं अनादि से पर लक्ष्य के कारण रागादि में एकाकार हो रहा था, उसे छोड़कर अब अपने स्वभाव के लक्ष्य से एकाकार होना है,—इसी का नाम साधकत्व है यही धर्म है और यही संसार-दुःखों का अन्त करके मोक्षसुख प्रगट करने का उपाय है।

(५३) वस्तु की मर्यादा—उसका स्वतंत्र परिणमन

अनादिकाल से यह जीव संसार में दुःखी हो रहा है, और अपनी मान्यतानुसार अनेक उपायों द्वारा उस दुःख को दूर करना चाहता है, किन्तु उसके सभी उपाय व्यर्थ हैं। प्रयोजन एक उपाय यह मानते हैं कि हमारी इच्छानुसार सभी पदार्थ प्रवर्तन करें तो दुःख दूर हो जाये और जैसा अपना श्रद्धान है वैसा ही अन्य पदार्थों को परिणमित करना चाहते हैं। अब, यदि वह पदार्थ उनकी इच्छा के आधीन होकर परिणमन करें तो उनका श्रद्धान यथार्थ हो, किन्तु "अनादिनिधन वस्तु स्वयं अपनी मर्यादानुसार भिन्न भिन्न परिणमन करती है, कोई किसी के आधीन नहीं है और न कोई पदार्थ किसी के परिणमित करने से परिणमित होता है।" तथापि यह जीव उसे अपनी इच्छानुसार परिणमित करना चाहता है। किन्तु यह कोई उपाय नहीं है—यह तो मिथ्या दर्शन ही है।

कोई भी जीव अपनी इच्छानुसार पर द्रव्य को परिणमित नहीं कर सकता, किन्तु स्वयं सम्यग्ज्ञान प्रगट करके जगत के समस्त पदार्थों का यथावत् ज्ञान कर सकता है। इस

जगत की प्रत्येक वस्तु निरंतर भिन्न भिन्न अपने अपने स्वरूप में स्वतंत्ररूप से परिणमन करती है, कोई किसी के आधीन परिणमित नहीं होती। आत्मा, आत्मा की मर्यादा में परिणमन करता है, किन्तु कोई कर्मादि उसे परिणमित नहीं करते। शरीर, शरीर की मर्यादा में परिणमन करता है। किन्तु आत्मा उसे परिणमित नहीं करता। कर्म का प्रत्येक परमाणु उसकी अपनी मर्यादा में परिणमन करता है किन्तु आत्मा उसे परिणमन नहीं कराता। कोई भी पदार्थ अपने स्वरूप की मर्यादा से बाहर होकर अन्य वस्तु को परिणमित नहीं करता, और किसी पदार्थ की मर्यादा में कोई अन्य वस्तु प्रवेश करके उसे परिणमित नहीं करा सकती। किसी एक वस्तु की मर्यादा में अन्य वस्तु का प्रवेश ही नहीं है, प्रत्येक वस्तु अपनी अपनी मर्यादा में भिन्न ही है तब फिर एक वस्तु दूसरी वस्तु में क्या कर सकती है? यदि एक वस्तु दूसरी में किसी भी प्रकार से कुछ करे तो वस्तु की मर्यादा ही टूट जाये और जगत में किसी स्वतन्त्र वस्तु का अस्तित्व न रहे।

इस जगत में जितनी वस्तुएँ हैं वे सब द्रव्य गुण पर्याय स्वरूप हैं। द्रव्य गुण त्रिकाल हैं और पर्याय प्रतिसमय नवीन प्रगट होती है। वह पर्याय वस्तु के द्रव्य गुण में से उसकी मर्यादापूर्वक ही आती है। चेतन वस्तु की पर्याय जडरूप नहीं होती और जडवस्तु की पर्याय चेतनरूप नहीं हो जाती, —ऐसी वस्तु की मर्यादा है। आत्मा की पर्याय कभी भी कर्म के आधीन परिणमित नहीं होती और कर्म के रजकणों की पर्याय

आत्मा के आधीन परिणमित नहीं होती। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय में कुछ भी कर सके—ऐसी द्रव्य की मर्यादा कभी है ही नहीं। वस्तु किस समय अपनी पर्याय में परिणमन नहीं करती कि वह परद्रव्य का कुछ करने जाय? अपनी पर्याय में ही परिणमन करने वाली वस्तु पर का कुछ भी, किसप्रकार कर सकती है?

(५४) उत्पाद–व्यय ध्रुव

अपनी अवस्था का उत्पाद का आधार वस्तु स्वयं ही है, अन्य कोई नहीं। अपनी पूर्व अवस्था का जाना, नवीन पर्याय का होना और वस्तु का स्वरूप ध्रुव स्थिर रहना—इसके अतिरिक्त परपदार्थों का लेना देना कुछ भी वस्तु में नहीं होता, ऐसा ही वस्तुस्वभाव है। तेरा उत्पाद प्रतिसमय तेरे ही आधीन है, इसलिये तू अपने द्रव्यस्वभाव की ओर देख, तो तेरी अवस्था का उत्पाद द्रव्य की जाति का शुद्ध प्रगट हो। उत्पाद-व्यय ध्रौव्य का स्वरूप समझकर परद्रव्यों के आश्रय का लक्ष्य छोड़कर स्वद्रव्य की दृष्टि करना ही उसका प्रयोजन है।

(५५) लोभ को दूर करने के लिये पूर्ण स्वरूप की भावना

जीव अनादि से अपने स्वरूप को भूलकर पर में सुख-बुद्धि से परवस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा, करता है, और इससे वह सदैव लोभ कषाय ... हो रहा है।

जहाँ तक अपने परिपूर्ण स्वभाव को नहीं जाना वहाँ तक जीव का लोभ दूर नहीं हो सकता। मैं त्रिकाल परिपूर्ण हूँ, कृतकृत्यस्वरूप भगवान हूँ, मेरा स्वरूप ही सब प्रयोजन से सिद्ध है, मुझे किसी परवस्तु की आवश्यकता नहीं है,—इस प्रकार अपने स्वभाव की श्रद्धा और भावना द्वारा लोभ दूर हो जाता है। स्वभाव की पूर्णता की भावना ही लोभ को दूर करने का उपाय है।

(५६) अपना स्वरूप सहज होने पर भी कठिन क्यों प्रतीत होता है ?

जीव ने अनादिकाल से अपने स्वरूप को नहीं जाना, इसलिये अपने को विकारी एवं पराश्रित मान रहा है, अपना स्वरूप तो स्वाधीन और शुद्ध है, किन्तु मैं विकारी और पराधीन हूँ–ऐसी विपरीत मान्यता की जड़ को नहीं छोड़ता, इससे अपना ही स्वरूप अपने को दुष्कर प्रतीत होता है। परवस्तुएं तो आत्मा से भिन्न ही हैं उन्हें दूर नहीं करना है। परवस्तु को त्यागने का भाव और कषाय की मंदता करना, वह तो जीव को सरल मालूम होता है, और पूर्वकाल में तो वह अनन्तबार किया है, किन्तु अपने स्वरूप की प्रतीति एवं वीतरागता पूर्वकाल में कभी न की होने से, और वर्तमान में उसकी महिमा न होने से, अपना स्वरूप होने पर भी कठिन प्रतीति होता है। यदि पात्र होकर अभ्यास करे तो अपना स्वरूप समझना कठिन नहीं है किन्तु सहज ही समझ में आने योग्य है।

सत् को समझने का मार्ग कठिन नहीं है, किन्तु अपनी अनादिकालीन विपरीत मान्यता को छोड़कर सत् की ओर रुचि करना जीव को कठिन होता है। अज्ञानी तो परवस्तु को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग द्वेष में ही रुक गया है। ज्ञानियों ने पर से भिन्न निजस्वभाव की पहिचान के द्वारा उस विपरीत मान्यता को छोड़ दिया है, इससे वे परवस्तु को इष्ट-अनिष्ट नहीं मानते और राग द्वेष में नहीं रुकते किन्तु पर से और रागादि से भिन्न अपने सहजस्वरूप का ही निरंतर अनुभव करते हैं।

आत्मा स्वयं अपने को महंगा नहीं है, अर्थात् आत्मा का स्वभाव ऐसा नहीं है कि समझ में न आये किन्तु स्वयं से समझा जा सके और अनुभव में आ सके ऐसे स्वभाव वाली वह वस्तु है परन्तु अपनी विपरीत मान्यता को रखकर और स्वभाव का विश्वास किये बिना समझना चाहता है—इससे कठिन प्रतीत होता है। समझने का जो मार्ग है उसे ग्रहण करे तो महँगा नहीं किन्तु सरल है किन्तु जो मार्ग है उसे न जाने और विपरीत मार्ग को पकड़े तो अनन्तकाल में भी आत्मा को नहीं समझ सकेगा। जिस आत्मस्वभाव की रुचि नहीं है उसे मत् सुनते हुए, अपनी मानी हुई बात पर कटाक्ष (प्रहार) होने से वह कठिन प्रतीत होता है, स्वयं ही अपने को भूल रहा है। जो ऐसा कहता है कि 'मुझे अपना स्वरूप समझ में नहीं आता,' अथवा मैं नहीं'—उसे ज्ञानी समझाते हैं कि हे भाई! मैं नहीं'—ऐसा कहने में भी प्रथम तो मैं शब्द आया

है, तो वह 'मैं' शब्द तूने किसके लिये कहा है ? इसलिये अपना आत्मा तो सदैव प्रगट है, किन्तु स्वयं को उसका विश्वास नहीं होता। और 'मुझे समझ में नहीं आयेगा'–ऐसा कहाँ से निश्चित् किया ? 'समझ में नहीं आयेगा'–यह निश्चित् करने वाला ज्ञान किसका है ? जिसके आधार से यह ज्ञान होता है उसकी ओर उन्मुख हो तो अपना ज्ञानस्वभाव पूर्ण है–ऐसा भान हो।

(५७) अपने स्वभाव को समझना सरल है, उसमें किसी अन्य की आवश्यकता नहीं होती

अपना आत्मस्वभाव समझने के लिये किसी परपदार्थ की आवश्यकता नहीं होती। स्वभाव को समझने के लिये पैसे की आवश्यकता नहीं होती, यदि पैसा न हो तब भी समझा जा सकता है, शरीर स्वस्थ न हो—रोग हो तब भी वह समझ में आ सकता है। स्वभाव को समझने के लिये राग करने की भी आवश्यकता नहीं होती। तब फिर जिसमें किसी भी पर पदार्थ की आवश्यकता नहीं है, किन्तु मात्र स्वयं से ही हो सकता है, उसे कठिन या असाध्य कैसे कहा जाय ? स्वभाव तो स्वयं से सहज है पर की रुचि में लीन हुआ है उसे छोड़कर यदि स्वभाव की रुचि में लीन हो तो स्वभाव स्वयं से ही समझ में आये ऐसा है। कोई परवस्तु जीवको प्रतीति करने में नहीं रोकती, और सहायता भी नहीं देती, और वास्तव में जो राग द्वेष होते हैं वे भी यथार्थ प्रतीति करने में नहीं रोकते और सहायता भी नहीं देते, किन्तु परवस्तु से

मुझे सुख हो जाये, तथा जो राग द्वेष हैं सो मैं हूँ–ऐसी मान्यता की पकड़ ही उसके ज्ञान को मूढ़ बना देती है। विकार में अपनापन माना है इसलिये उसी में लीन होकर प्रवर्तन करता है, किन्तु विकार से हटकर ज्ञान और शुद्ध स्वभाव की ओर नहीं बढ़ता। यदि राग से हटकर चैतन्यस्वभाव की ओर ज्ञान को बढ़ाये तो उसी क्षण स्वभाव का अनुभव हो।

(५८) ज्ञानी और अज्ञानी के राग में अन्तर

परवस्तुएं मुझ से भिन्न हैं, कोई भी परवस्तु मुझे इष्ट अनिष्ट नहीं है, मेरे स्वभाव में राग नहीं है,–इसप्रकार पर से भिन्न और स्व से परिपूर्ण स्वभाव की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद जीव को पुरुषार्थ की अशक्ति से होने वाले राग द्वेष अल्प ही होते हैं, और उन अल्प राग द्वेष को भी सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वभाव में स्वीकृत नहीं करते, इससे उनके स्वभाव के बल से राग की सीमा अल्प ही है और उसका भी प्रतिक्षण अभाव होता रहता है। अज्ञानी जीव परपदार्थ में इष्टता अनिष्टता की कल्पना करके स्वभाव को भूल जाते हैं, इससे उनके राग द्वेष की सीमा नहीं है, वे राग द्वेष में ही एकरूप होकर प्रवर्तन करते हैं और उनकी ज्ञानशक्ति का प्रतिक्षण ह्रास होता जाता है।

(५९) राग द्वेष के समय सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का परिणमन कैसा होता है ?

परवस्तु से तो आत्मा मुक्त ही है, अर्थात् कोई भी पर

वस्तु आत्मा को राग द्वेष नही कराती–इसप्रकार प्रथम स्वीकार करके अपने आत्मा म दृष्टि डालने से दो पक्ष होते है। द्रव्य स्वभाव में तो कभी राग द्वेष नही हैं और पर्याय में जब तक अपूर्णता होती है तब तक राग द्वेष होते हैं। जि ह ऐसी पहिचान हुई हो वे जीव पर्याय के क्षणिक राग द्वेष को अपना कतव्य ही नही मानते, अकत्त्र्यबुद्धि मे होने वाले राग द्वेष बिलकुल अल्प होते हैं। 'बिलकुल अल्प' कहने से ऐसा नहीं समझना कि सम्यग्दशन होने से जीव को घरबार, व्यापार, राज्यादि सभी का राग छूट ही जाता है, किन्तु किसी सम्य ग्दृष्टि के उस प्रकार का राग होता अवश्य है। कदाचित् युद्ध इत्यादि का प्रसग आजाये, तथापि उस समय भी वे अभि प्राय म तो राग से भिन्नरूप चतन्यस्वभाव म ही परिणमन करत हैं, राग के अश को भी अपने कतव्यरूप से स्वीकार नही करते उसका अ तर म आदर नही करते–ऐसी दशा उनके सदव प्रवतमान होने से उनका राग द्वेष बिलकुल अल्प ही होता है–ऐसा समझना चाहिय। अज्ञानी जीव परवस्तु के सयोग वियोग के कारण राग द्वेष मानते हैं, देव गुरु शास्त्र पर आपत्ति हो तब राग द्वेष करना ही चाहिये–इत्यादि प्रकार से वे राग द्वेष को कतव्य मानत है और राग द्व ष म ही एकाकार रूप से वतन करते हैं इससे उनके सदव अन त राग द्वेष है। अपने स्वभाव का राग द्वेष से व किचित् भिन्नत्व नही समझते।

(६०) ज्ञानी के वीतरागता की और अज्ञानी के राग की भावना है।

जिसने किसी भी सयोग से राग माना है, उसके यदि

वश संयोग न हो तो भी उस समय यदि इस इस समय ऐसा संयोग आ जाये तो मुझे राग हो'–ऐसे अभिप्राय से वह राग का सेवन कर ही रहा है, यदि इसी क्षण ऐसा संयोग आय तो राग मेरा कर्तव्य ही है–ऐसा वह मानता है, अर्थात् उसे निरन्तर संयोगदृष्टि से राग की ही भावना है, किन्तु स्वभावदृष्टि या वीतरागता की भावना नहीं है। ज्ञानीके स्वभाव-दृष्टि से वीतरागता की ही भावना है कि चाहे जैसे प्रतिकूल संयोग के समय भी अपने ज्ञानस्वभाव में एकाग्र रहकर वीत-राग हो जाऊं–यही मेरा कर्तव्य है। शासन के लिये भी मुझे राग करने योग्य नहीं है। इसप्रकार ज्ञानी के निरंतर स्वभाव की भावना प्रवर्तमान रहती है, और उससे राग दूर होकर वीतरागता होती जाती है।

(६१) अज्ञानी जीव निमित्त के आग्रह से कषाय को लगाते हैं, और ज्ञानी जीव स्वभाव की भावना से कषाय को नष्ट कर देते हैं।

अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि–परवस्तु के कारण अपने को कषाय होती है, अर्थात् उसे निमित्त का आग्रह है कि अमुक निमित्त मिलें तभी मेरी कषाय शान्त हो, जब तक विचारा हुआ संयोग नहीं मिलेगा तब तक कषाय शान्त नहीं होगी। अज्ञानी की ऐसी पराधीन मान्यता है। अपने को जिस प्रयोजन से कषाय हुई है उस प्रयोजन की सिद्धि हो तभी कषाय दूर हो—ऐसा मानकर अज्ञानी जीव परवस्तु में फेरफार

अरे ! मुनि के आहार का योग नहीं बना किंतु मुनि तो निस्पृह हैं, अमुक गृह मे आहार लेना—एसा कोई प्रतिबंध उनके नहीं है क्षणमात्र म आहार की वृत्ति को तोडकर स्वरूपानुभव म लीन हो जाते हैं, मैं भी इस विकल्प को तोडकर अप्रमत्तदशा प्रगट करके स्वरूप म लीन हो जाऊँ तो उसमें मेरे केवलज्ञानभगवान का आदर होता है—यही मेरा कर्त्तव्य है। इसप्रकार ज्ञानी के समाधान वर्तता है और सब प्रसग म वीतरागता की ही वृद्धि होती है। अज्ञानी को वसे प्रसग पर समाधान नहीं होता, किंतु बाह्य म क्रिया हो तभी वह सन्तोष मानता है, क्योंकि अपने स्वभाव की ओर उसका लक्ष्य नहीं है किंतु निमित्त और राग पर लक्ष्य है।

(६४) लोभ, भय, जुगुप्सा और कामेच्छा को दूर करने का उपाय

मै त्रकालिक परिपूर्ण स्वरूप हूँ—एसी श्रद्धापूवक चिंतवन वह लोभ को दूर करने का उपाय है, किंतु पर वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न करना वह लोभ को नष्ट करने का उपाय नहीं है, किंतु उससे तो लोभ म वृद्धि होती है। जब जीव को भय उत्पन्न होता है तब अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि 'प्रतिकूल सयोगो को दूर करूँ तो भय नष्ट हो जाये,' किंतु वह मिथ्या मान्यता है। अपने निर्भय आत्मपद की शरण लेना ही भय को दूर करने का उपाय है। अपने निर्भय स्वरूप की प्रतीति के बिना किसकी शरण लेकर भय को नष्ट करेगा ? मै त्रिकाल सत्‌स्वरूप हू, कभी किसी प्रसग पर मेरा

विनाश नहीं है, मेरा आत्मपद सभी विपत्तिओं का अभाव है, इससे मैं स्वयं निर्भय हूँ,—ऐसी दृष्टि जिसके है वही जीव वास्तव में निर्भय है। जुगुप्साभाव हो, उस समय अज्ञानी जीव परवस्तु को अनिष्ट मानकर उसे दूर करना चाहता है, क्योंकि वह उसी को जुगुप्सा दूर करने का उपाय मानता है किन्तु वह उपाय मिथ्या है। कोई परवस्तु मुझे इष्ट अनिष्ट नहीं है, सभी वस्तुएँ अपने अपने भाव में परिणमन करती हैं मेरा परमपारिणामिक स्वभाव परम शान्त स्वरूप है, वही मुझे परम इष्ट है,—इसप्रकार स्वभाव के लक्ष्य से वैराग्य भावना की वृद्धि करना ही जुगुप्सा टालने का उपाय है। जब कामवासना उत्पन्न होती है तब अज्ञानी विषय सेवन करके कामवासना को दूर करना चाहता है, किन्तु वह उपाय मिथ्या है। मैं अशरीरी स्वरूप हूँ शरीर के साथ का संबंध अथवा उसके लक्ष्य से उत्पन्न होने वाली वृत्ति मेरा स्वरूप नहीं है, इसप्रकार अपने अशरीरी स्वभाव का चिन्तवन ही कामवासना का नाश करने का उपाय है। जिस प्रकार अग्नि में ईंधन डालने से वह शांत नहीं होती किन्तु उल्टी बढ़ती है, उसीप्रकार विषय भोगने से कामाग्नि शान्त नहीं होती किन्तु बढ़ती है। परन्तु अपने चैतन्यस्वभाव के चिंतवन के बल से विषयों का लक्ष्य छूटकर कामेच्छा का अभाव होता है।

(६५) कषाय सीमित कब होती है?

अज्ञानी के कषाय के निमित्त परिवर्तित होते हैं, किन्तु कषाय तो अभिप्राय में ज्यों की त्यों—असीम रहती है। यदि

कषायों में कार्य का कुछ प्रमाण हो तो उसमें कार्य की सिद्धि होने से जीव सुखी हो, किन्तु अज्ञानी की कषाय में कार्य का तो कोई प्रमाण है नहीं, मात्र इच्छा ही बढ़ती जाती है। यदि कषायरहित स्वरूप को जाने तो कषाय सीमित हो जाये। 'मेरे चैतन्यस्वरूप में क्रोध का अंश भी नहीं है, रागादि कषाय का अंश भी मुझमें नहीं है'—ऐसे अपने अकषायी चैतन्य स्वरूप की दृष्टि में ज्ञानी जीव कषाय का बिलकुल अभाव मानते हैं, इससे उनके तो अस्थिरता की कषाय की सीमा है। दृष्टि की अपेक्षा से तो ज्ञानी के कषाय होती ही नहीं, ज्ञान की अपेक्षा से कषाय ज्ञेय है, अर्थात् कषाय को कषायरूप से जानकर ज्ञान उसका निषेध करता है कि—यह मेरा स्वरूप नहीं है, और चारित्र की अपेक्षा से कषाय की सीमा है। दृष्टि में कषाय का नितान्त अस्वीकार हुए बिना यथार्थ ज्ञान या कषाय की मर्यादा नहीं हो सकती।

(६६) इच्छा दुःख को दूर करने का उपाय नहीं है, किन्तु सम्यग्ज्ञान ही उसका उपाय है।

आत्मानुशासन में कहा है कि—जगत में अनन्तानन्त जीव हैं, उन सबमें आशारूपी महान् गड्ढा विद्यमान है। प्रत्येक जीव में आशारूपी गड्ढा इतना महान् है कि यह समस्त लोक उसमें अणु के समान है। लोक एक ही है और जीव अनन्तानन्त हैं तो किन किन जीवों के हिस्से में कितना कितना आये? इसलिये विषय की इच्छा ही व्यर्थ है। विषय ग्रहण की

इच्छा तो कभी शान्त ही नहीं होती। कोई एक इच्छित कार्य हो वहाँ उसी समय दूसरे प्रकार की इच्छा होती ही रहती है। समस्त लोक किसी को मिल नहीं सकता इसलिये इच्छा दुःख को दूर करने का उपाय नहीं है किन्तु 'सम्पूर्ण लोक का ज्ञान प्रत्येक जीव को हो सकता है इसलिये ज्ञान ही दुःख मिटाने का उपाय है।"

अब, यदि परलक्ष्य से समस्त लोक को जानना चाहे तो नहीं जान सकता, किन्तु अपने स्वभाव की श्रद्धापूर्वक एकाग्रता करे तो ज्ञान का विकास होकर केवलज्ञान प्रगट हो और इच्छा तथा दुःख का विनाश हो। इसलिये समस्त लोक के सभी परद्रव्यों में अपनत्व को छोड़कर 'मैं परिपूर्ण ज्ञान स्वरूप हूँ'—ऐसी स्वभावदृष्टि और स्थिरता करके समस्त लोक का ज्ञाता बन जा। इच्छा रखकर समस्त लोक को नहीं जान सकेगा किन्तु इच्छा को नष्ट करने से समस्त लोक का ज्ञान हो सकता है।

(६७) अनन्त भव का मूल और उसके विनाश का कारण।

अनन्तभव के अभाव का कारण वस्तुदृष्टि है और अनन्त भव के सद्भाव का कारण विपरीत अभिप्राय है, अर्थात् जैसा वस्तुस्वभाव है वैसी ही मान्यता करना सो सम्यग्दर्शन, है और वही अनन्त भव के विनाश का कारण है। तथा जैसा वस्तुस्वभाव है उससे विपरीत मान्यता करना सो मिथ्यादर्शन है और वही अनन्त भव का मूल है। स्वभावदृष्टि होने

पश्चात् उस दृष्टि के मथन के बल से ही वीतरागता होती है। प्रथम सम्यग्दर्शन ज्ञान द्वारा यदि पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का श्रद्धान और ज्ञान हो तो परपदार्थों में इष्ट अनिष्ट बुद्धि होना मिट जाये तथा उसी श्रद्धा ज्ञान के बल से चारित्र मोह नष्ट होता जाये,—ऐसा होने से क्रमश कषाय का अभाव हो तब कषायजन्य दुःख दूर हो और पश्चात् इच्छाएँ भी मिट जायें, अर्थात् निराकुल होने से जीव महान् सुखी हो। इसलिये सम्यग्दर्शनादिक ही दुःख को दूर करने का उपाय है।

(६८) सुख कहा है और वह कैसे प्रगट होता है?

परवस्तु में आत्मा का सुख नहीं है, तथापि अज्ञानी जीव पर वस्तु में सुख मानकर उसे व्यवस्थित रखना चाहता है। किन्तु पर वस्तु की स्थिति उसके आधीन नहीं है। और यदि पर वस्तु में जीव का सुख हो तो उसकी उपस्थिति में उसे दुःख नहीं हो सकेगा। क्योंकि जिस वस्तु में सुख हो उसके अस्तित्व मे दुःख हो ही नहीं सकता। अज्ञानी ने धन, शरीर इत्यादि जिन जिन वस्तुओं में सुख माना है, उन उन वस्तुओं की उपस्थिति में भी वह प्रत्यक्ष दुःखी होता दिखाई देता है, इसलिये पर वस्तु में सुख नहीं है, किन्तु पर से भिन्न अपना आत्मस्वभाव सुखरूप है उसकी श्रद्धा करके उसमें जितना एकाग्र हो उतना ही यथार्थ सुख का प्रगट अनुभव होता है। ऐसा जानकर हे जीव! तू अपने आत्मस्वभाव की रक्षा कर!

(६८) ज्ञानी के समाधि और अज्ञानी के मूर्च्छा तथा उसके कारण

अज्ञानी की दृष्टि नाना वस्तु से पर न ही ऊपर है, उसे आत्मस्वभाव की जागृति किंचित् भी नहीं है इसलिये मरते समय उसके अन्तर में मूर्च्छा आ जाती है। भले ही बाह्य में वह अन्तिम समय तक बोलता रहे तथापि अन्तरंग में उसे मूर्च्छा हो जाती है। और ज्ञानी की दृष्टि नाना वस्तु ध्रुव स्वभाव पर ही है, जीवन में प्रतिक्षण चैतन्य की जागृति प्रवर्तमान रहती है इसलिये मरण के समय भी उसके अन्तर में समाधि ही होती है।

जीवनभर जिस प्रकार का सेवन किया हो वैसा ही परिणाम आता है। जिसने अज्ञान का सेवन किया है उस अज्ञानी के जीवन के अन्त में मूर्च्छा आती है और ज्ञानी के आत्मसमाधि होती है। सामान्यरूप से अज्ञानी के तो सदैव मूर्च्छा ही है और ज्ञानी की दृष्टि में सदैव समाधि ही है और जीवन के अन्त समय में वह विशेषरूप में प्रगट दिखाई देती है।

ज्ञानी की दृष्टि असंयोगी आत्मस्वभाव के ऊपर है, कषाय की मन्दतारूप पुण्यपरिणामों पर भी उसकी दृष्टि नहीं है, तथा बाह्य पदार्थों के संयोग वियोग पर भी उसकी दृष्टि नहीं है। दृष्टि तो परिपूर्ण शुद्धस्वभाव पर है, इसलिये निमित्त के कारण आकुलता नहीं मानते तथा अस्थिरता का क्षणिक राग द्वेष हो जाय तो भी उनको स्वरूप में भ्रम नहीं पड़ता,

की अशक्ति के कारण जो अल्प आकुलता है उसका भी दृष्टि में स्वीकार नहीं है।

अज्ञानियों की दृष्टि अपने स्वभाव पर न होने से उनकी दृष्टि पर वस्तु के संयोग वियोग पर और विकारीभाव पर ही है, इससे वे निमित्तों के कारण आकुलता मानते हैं और विकारी परिणाम से उनको स्वभाव में भ्रम बना ही रहता है, इसलिए उनको निरंतर आकुलता व्याकुलता ही रहती है, और उनकी आकुलता विकार में और पर में एकत्वबुद्धिपूर्वक होने से अनंत है, किंतु ज्ञान का विकास अल्प है। जितना ज्ञान का विकास है वह दुःख का कारण नहीं है और पर पदार्थ भी दुःख का कारण नहीं है किंतु स्वभाव से च्युत होकर संयोग के लक्ष्य से स्वयं जो संयोगीभाव करता है वही दुःख का कारण है। स्वभाव दुःख का कारण नहीं है संयोगी पदार्थ दुःख का कारण नहीं है किंतु संयोगीभाव दुःख का कारण है और असंयोगी स्वभावभाव सुख का कारण है।

(७०) सुखी होने का सच्चा उपाय स्व पर का भेदज्ञान है

स्व पर के भेदज्ञानपूर्वक समस्त वस्तुओं का सामान्य ज्ञान कर लेना चाहिये, किंतु अज्ञानी जीव मात्र ज्ञान करने के बदले ज्ञान के साथ "यह पदार्थ मुझे सुखदायक है और यह दुःखदायक है"—इत्यादि प्रकार से विपरीत मान्यतासहित जानते हैं इससे उनका ज्ञान मिथ्या होता है। सामग्री के संयोग वियोग के अनुसार सुख दुःख नहीं हैं किंतु जीव मात्र

मोह से उनमें सुख दुःख की कल्पना करता है। पर सामग्री में माने हुए सुख दुःख मोहजन्य ही हैं। इसीलिये प्रकार यहां कहते हैं कि तू सामग्री को दूर करके या उसे स्थायी रखकर दुःख मिटाने या सुखी होने की इच्छा करता है, किन्तु यह सभी उपाय मिथ्या है। सच्चा उपाय तो यह है कि सम्यग्दर्शनादिक से स्व पर का भेदविज्ञान होने से भ्रम दूर हो जाये तो सामग्री से अपने को सुख दुःख न मानकर अपने परिणामों से ही सुख दुःख भासित हो, और उससे स्व-पर के यथार्थ विचार व अभ्यास द्वारा जिस प्रकार अपने परिणाम सुधरें वैसा साधन करे। इन सम्यग्दर्शनादिक की भावना से ही मोह मन्द होने पर ऐसी दशा हो जाती है कि अनेक कारण मिलने पर भी उनमें अपने को सुख दुःख भासित ही न हो, और एक शान्तदशारूप निराकुल होकर यथार्थ सुख का अनुभव करे वैसा होने पर सब दुःख मिटकर जीव सुखी हो। इसलिये यही सम्यक् सुखी होने का सच्चा उपाय है।

(७१) यथार्थ दृष्टि और विपरीत दृष्टि का आधार तथा उसका फल

यथार्थ दृष्टि का आधार आत्मा है और उसका फल शुद्ध सिद्धदशा है, विपरीत दृष्टि का आधार एक समय की पर्याय का विकार है और उसका फल संसार में एकेंद्रियदशा है। इस संसाररूपी रथ के मिथ्यात्वरूपी धुरी है और पुण्य दो चक्र हैं।

(७२) पुण्य पाप अकेले नहीं होते, धर्म अकेला होता है

चाहे जैसा तीव्र से तीव्र अशुभ परिणाम करे तथापि उस समय जो पापबंध होता है, उसी के साथ अमुक पुण्य बंध भी होता ही है, उसी प्रकार चाहे जैसा शुभ परिणाम करे तथापि उस समय जो पुण्यबंध होता है, उसी के साथ अमुक पापबंध होता ही है। पुण्य पापरहित मात्र शुद्धभाव हो सकता है, किन्तु अकेला पुण्य या अकेला पाप किसी जीव के नहीं हो सकता। पुण्य पाप दोनों साथ ही होते हैं। यदि मात्र पुण्य हो जाये तो संसार ही नहीं हो सकता, और मात्र पाप ही हो जाये तो चैतन्य का ही सर्वथा लोप हो जाये, अर्थात् आत्मा का ही विनाश हो जाये।

निगोद के जीव को भी अमुक मन्द कषाय तो होती ही है। उसके जो चैतन्य का विकास है वह मन्द कषाय का फल है। यदि मन्दकषायरूप पुण्य सर्वथा न हो (एकान्त पाप ही हो) तो चैतन्यत्व नहीं रह सकता। और वर्तमान में चैतन्य का जितना विकास है वह बंध का कारण नहीं होता। हिंसा करते समय भी कसाई को अल्प अल्प पुण्यबंध होता है। हिंसाभाव पुण्यबंध का कारण नहीं है, किन्तु उसी समय चैतन्य का अस्तित्व है—ज्ञान का अंश उस समय भी रहता है, इससे सर्वथा पाप में युक्तता नहीं होती।

आत्मा का शुद्ध स्वरूप एक अभंग है और संसार का (विकार का) स्वरूप ही अनेक भंग वाला है। विकार एकरूप नहीं होता, शुभ या अशुभ चाहे जो विकारभाव हो वह मोह

स भाव है, उससे पुण्य पाप दोनों की प्रवृति और स्थिति
वती है। चैतन्य अखण्ड एकरूप है, उसकी शुद्धता में द्विरूपता
हीं है, किन्तु एक ही प्रकार है, और अशुद्धता में द्विरूपता
होती है। आत्मा की शुद्धतारूप धर्म पुण्य पाप के बिना-अकेला
ह सकता है।

(७३) दुःख के कारणरूप चार प्रकार की इच्छा और उसे दूर करने का उपाय

दुःख का लक्षण आकुलता है, और आकुलता इच्छा होने
 होता है। अपने निराकुल आत्मस्वरूप को जाने बिना जीव
ो चार प्रकार की इच्छा होती रहती है —

(१) परविषयों के ग्रहण की इच्छा होती है अर्थात् उन्हें
खना-जानना चाहता है, किन्तु स्वभाव को जानने देखने की
ावना नहीं करता। वर्ण देखने की, राग सुनने की तथा
ायक्त पदार्थों को जानने आदि की इच्छा होती है और जब
क उन्हें देख-जान न ले, तब तक वह महा व्याकुल होता है।
पने आत्मस्वरूप को ज्ञान का विषय करके उसी को जानने
 बदले परवस्तु को जानने-देखने की इच्छा करता है-उसका
ाम विषय है।

(२) अपने शांत चैतन्यस्वरूप में क्रोधादिक नहीं हैं,
उस स्वरूप का अनुभव नहीं किया, इसलिये परलक्ष्य से क्रोध-
मानादि होने से दूसरों को नीचा दिखाने की किसी का
करने की, परवस्तु को प्राप्त करने की

उससे तू रोगी है। यदि तुझे अपने दु:ख का प्रतिभास हो और उससे छूटने की जिज्ञासा होती हो तो तू सद्गुरुरूपी वैद्य के पास जाकर उनसे ज्ञात कर कि मेरे रोग का क्या कारण है और उसे दूर करने का उपाय क्या है?

(७५) दु:ख का लक्षण

किसी भी इच्छा का होना ही दु:ख है। यदि जीव वास्तव में सम्पूर्ण सुखी हो तो उसे इच्छा ही न हो। यदि जीव को सुख ही हो तो वह सुखदशा से छूटकर दूसरे की इच्छा किस लिए करे? जहाँ आत्मा के पूर्ण आनन्द का अनुभव होता हो, वहाँ पर की इच्छा ही क्या हो? इच्छा का होना ही यह बतलाता है कि वह जीव दु:ख की भूमिका में विद्यमान है। यदि आत्मा का निराकुल आनन्द हो, तो आनन्द से छूटकर आकुलताजनित इच्छा होगी ही नहीं इसलिये जिसके इच्छा है उस जीव के दु:ख है—ऐसा समझना चाहिये।

आत्मा से भिन्न किसी भी अन्य वस्तु में आत्मा का सुख नहीं है, आत्मा पर वस्तु में सुख मानकर उसकी इच्छा करता है, उस इच्छा में भी सुख नहीं है, पुण्य की इच्छा भी दु:ख रूप है, पुण्यभाव स्वयं दु:खरूप है। जगत के जीव पुण्य की इच्छा को और उसके फलरूप सामग्री को सुखरूप मानते हैं, किन्तु वह भ्रम है। मोक्षसुख की इच्छा करना भी दु:खरूप है और वह भी मोक्ष को रोकने वाली है। यदि जीव को मोक्षसुख प्रगट हो तो उसे उसकी इच्छा ही न हो। जिनके मोक्षसुख प्रगट नहीं है किन्तु कुछ दु:ख प्रवर्तमान है वे जीव

उससे मुक्त होकर मोक्षसुख प्रगट करने की इच्छा करते हैं। वह इच्छा भी आकुलतारूप होने से दुःख है।

(७६) ज्ञान और इच्छा

अपने वीतराग स्वरूप के लक्ष्य की एकाग्रता से च्युत होकर परलक्ष्य करे तभी इच्छा होती है, परलक्ष्य से इच्छा का विनाश कभी नहीं हो सकता। अपने स्वरूप की एकाग्रता द्वारा समस्त इच्छाओं का निरोध एक ही साथ हो जाता है। किन्तु यदि परलक्ष्य में रुके तो पूर्ण ज्ञान नहीं होगा और इच्छाओं की उत्पत्ति हुए बिना नहीं रहेगी, तथा वहाँ तो इच्छानुसार सभी कार्य एकसाथ हो ही नहीं सकते। इसलिये स्वरूप की श्रद्धा और एकाग्रता द्वारा इच्छा का निरोध करना सरल है, किन्तु पर विषयों को ग्रहण करने की इच्छानुसार कार्य नहीं हो सकता। यदि जीव अपने ज्ञायक स्वभाव में स्थिर होकर ज्ञान करे तो उसके ज्ञान के अनुसार सभी पदार्थों का परिणमन स्वयं हो, किन्तु जीव की इच्छानुसार समस्त पदार्थ कभी परिणमन नहीं करते, इससे निश्चित् हुआ कि ज्ञान करना जीव का स्वभाव है और इच्छा करना जीव का स्वभाव नहीं है।

(७७) इच्छाओं को दूर करने का उपाय भेदज्ञान

इच्छाओं का निरोध किसके आधार से हो सकता है? मैं ज्ञान-ज्ञानदर्शनस्वरूप आत्मा हूँ, सबको जानने का मेरा स्वभाव है, किन्तु इच्छा करना मेरा स्वरूप नहीं है

अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा और एकाग्रता के बल से इच्छा का अभाव हो जाता है। मात्र ज्ञानस्वभाव की अस्ति में इच्छा की नास्ति ही है–इसप्रकार प्रथम ज्ञान और इच्छा के भिन्नत्व की प्रतीति करके यदि ज्ञान की एकाग्रता करे तो इच्छा का नाश हो जाता है, किन्तु आत्मा को यथावत् जाने बिना–अधूरा रहने से इच्छा का निरोध नहीं हो सकता। जिसने इच्छारहित आत्म स्वभाव को नहीं जाना वह कहाँ एकाग्रता करके इच्छा को दूर करेगा? कोई भी इच्छा वह दुख ही है, और मेरे स्वभाव में अंशमात्र इच्छा नहीं है,—ऐसा निर्णय जबतक न हो तब तक जीव इच्छा को दूर ही क्या करना चाहेगा? यदि जीव को इच्छा में सुख मालूम हो तो वह इच्छा को अपना स्वरूप मानकर रखना चाहेगा, किन्तु यदि अपने स्वभाव को जान ले तो उसे भान हो कि इन इच्छाओं की उत्पत्ति मेरे स्वभाव में से नहीं होती और वे दुखदायक हैं, इसलिये दूर करने योग्य हैं। जिन्हें ऐसा भेदज्ञान हो वे जीव स्वभाव के भान द्वारा इच्छा के नाश का उपाय करते हैं, किन्तु जिन्हें ऐसा भेदज्ञान नहीं है वे जीव संयोगों की ही भावना करते हैं, वे महा दुखी हैं।

स्वभाव की भावना को छोड़कर परद्रव्य की भावना करना –वह इच्छा ही चौरासी के अवतार का मूल है, और इच्छारहित आत्मस्वभाव की भावना ही मुक्ति का मूल है। मेरा ज्ञान स्वभाव इच्छारहित है,–ऐसा निर्णय करने से इच्छा अपंग हो जाती है–इच्छा की भावना दूर हो जाती है। स्वभाव की

श्रद्धा करने पर उसी समय समस्त इच्छाओं का सर्वथा नाश नहीं हो जाता, किन्तु अभिप्राय में तो सभी इच्छाओं का निषेध हो जाता है, उस अभिप्राय के बल से अल्पकाल में इच्छा का सर्वथा क्षय हो जाता है। प्रथम ही इच्छा दूर नहीं हो जाती किन्तु 'मेरा स्वरूप इच्छारहित है और इच्छा मुझे दुःख का कारण है'—ऐसी श्रद्धा करना चाहिये।

(७८) दुःख इच्छानुसार है, संयोगानुसार नहीं। इच्छा का मूल मिथ्यात्व है।

वर्तमान में जीव इच्छा करता है, इसलिये कार्य होता है—ऐसा नहीं हो सकता। संयोग वियोगरूप कार्य होना हो वह तो स्वयं होता है, किन्तु जीव की इच्छा के कारण नहीं होता। इच्छित सामग्री प्राप्त होना प्रतिकूलता का दूर होना और क्रोधादि से इच्छानुसार कार्य होना,—वह तो पूर्वपुण्य के निमित्त से होता है, और वैसी इच्छा का जो वर्तमान भाव है वह तो पाप है। अज्ञानी अधिकांश तो पापक्रियाओं में ही वर्तन करता है, पुण्यक्रियाओं में बहुत ही कम लगता है। इससे जिन सामग्रियों को भोगने की इच्छा को जगत सुख मानता है—वैसी सामग्रियों का संयोग किसी किसी जीव को कभी होता है तथापि किसी जीव को पुण्य के फलरूप अधिक सामग्री होने पर भी यदि उसे अधिक इच्छा हो तो वह अधिक दुःखी है, तथा किसी जीव को थोड़ी सी सामग्री होने पर भी यदि अल्प इच्छा हो तो [illegible] है, इसलिये सुखी दुःखी होना इच्छा के

किन्तु बाह्य सामग्री के अनुसार नहीं। देवों को अल्प दुःख और नारकियों के अधिक दुःख कहा जाता है, वह संयोग की अपेक्षा से नहीं है, किन्तु देवों को मन्द इच्छा है और नारकियों को तीव्र इच्छा है—इसलिये वैसा कहा जाता है। देवों को सुखी मानना भ्रम है, क्योंकि प्राप्त सामग्रियों को भोगने की इच्छा से वे भी दुःखी हैं। यदि भक्ति की शुभ इच्छा हो तो वह भी दुःख है उससे बन्ध होता है। इसप्रकार संसारी जीवों के मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम से इच्छा होती है और इच्छा ही दुःख है, इसलिये मिथ्यात्व, अज्ञान तथा असंयमभाव ही दुःख के कारण सिद्ध हुए। उनमें सबसे महान् मूल कारण मिथ्यात्व है।

इसप्रकार संसारी जीवों को दुःख है—यह सिद्ध किया, और उस दुःख के कारण भी बतलाये।

(७६) सुख का उपाय रत्नत्रय है

अब, उस दुःख से मुक्त होने का उपाय बतलाते हैं। जिन जीवों को दुःख से छूटना हो उन्हें इच्छा को दूर करने का उपाय करना चाहिये, क्योंकि इच्छा से ही दुःख होता है। इच्छा तो उसी समय दूर हो सकती है जब मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम का अभाव होकर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की प्राप्ति हो, इसलिये इन सम्यग्दर्शनादि कार्यों का उद्यम करना ही योग्य है। इस साधन के द्वारा ही सच्चा सुख प्रगट होता है। ज्यों ज्यों सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में वृद्धि होती है, त्यों त्यों इच्छा और दुःख दूर होते जाते हैं और सच्चा सुख प्रगट होता जाता है।

(८०) पापी ने अनन्तकाल में कैसे भाव किये हैं ?

सम्यग्ज्ञान ज्ञान चारित्र सुख के कारण है और वही धर्म है। धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, इसलिये उस स्वभाव द्वारा पुण्य का पाप कुछ भी नहीं बंधता। धर्मभाव मुक्ति का कारण है बन्धन का नहीं। जिस भाव से कोई भी बन्धन हो वह धर्म भाव नहीं है। यदि पुण्यबन्ध हो तो वह भी विकार है धर्म नहीं। जीव ने अज्ञानता के कारण अनन्त भव में अनन्त बार पुण्य पाप किये है अनादि से यही करता रहा है, किन्तु पुण्य पापरहित जो आत्मा का स्वभाव है उसका कभी एक क्षण का निर्णय नहीं किया, एक क्षण भी पुण्य पाप से भिन्न स्वभाव को नहीं जाना, उसे माना नहीं और उसका अनुभव एवं रुचि भी नहीं की। आत्मा के धर्म की जाति पुण्य-पाप से भिन्न है, उसे सम्यग्ज्ञानी ही जानते हैं और वे धर्मी हैं। इसप्रकार धर्मात्माओं का एक भिन्न वर्ग समझना चाहिये।

दूसरा वर्ग—जो पुण्य पाप में धर्म मानते हैं—ऐसे अधर्मियों का है। प्रथम धर्मी जीवों को पृथक करके अब ग्रन्थकार अधर्मी जीवों के दो भाग करते हैं। पुण्य पाप से भिन्न स्वतन्त्र स्वभाव की पहिचान तो नहीं की किन्तु पुण्य-पाप में भी मुख्यरूपसे जीव ने पाप ही किये हैं, पुण्य तो बहुत ही कम जीव कभी-कभी करते हैं। पाप में प्रवर्तन करने वाले जीव अधिक होते हैं किन्तु पुण्य में प्रवर्तन करने वाले कम होते हैं। विषय ग्रहण आदि की इच्छा तो पाप ही है, पुण्य बन्ध तो धर्मानुराग से होता है। यद्यपि धर्मानुराग भी आत्मा का स्वभाव

नहीं है-घम नहीं है, किन्तु यह पर ला ग्रन्थकार को इतना ही सिद्ध करना है कि-ससार मे पापबन्ध को भोगने वाले जीव अधिक हैं और पुण्यबन्ध वाले कम हैं।

(८१) अज्ञानी दुख को भी नहीं जानते !

अज्ञानी जीव आत्मस्वभाव को तो नहीं जानते, किन्तु यह भी नहीं जानते कि ससार मे कैसा चल रहा है। अपने स्वरूप को भूलकर जीव पर पदार्थों की रुचि मे ऐसा तल्लीन हो गया है कि-सत्य स्वरूप का विचार करने से वह प्रयोजन ही नही रखता। एकबार आत्मा का अभिप्राय रखकर, परपदार्थों की रुचि से हटकर विचार करे तो ससार के स्वरूप का सच्चा ख्याल आये। ज्ञानियों ने स्वभाव को जाना है और यह भी यथार्थ रूप से जाना है कि ससार के जीव किस किस प्रकार से दुखी होते हैं, स्वय भी पहले अज्ञानदशा मे उन दुखो का अनुभव किया था और अब उस दुखरहित स्वभाव का अनुभव किया है इसलिये ज्ञानी ही ससार के दुखो का, उनके कारणो का और उन्हे दूर करके सुखी होने के उपाय का यथार्थ रीति से वर्णन कर सकते है। अज्ञानियो को सुख का तो अनुभव नही है और दुख को दुखरूप मे भी नही जाना है, इसलिये सुखी होने का और उसके उपाय का वर्णन भी उनका मिथ्या होता है।

(८२) पुण्य करने से भी चैतन्यधर्म की दुर्लभता

कई जीव तो पर विषय के ग्रहण मे ही रुक जाते हैं, उनके तो पाप है, किंतु कोई पैसा आदि खर्च करे और वहाँ

अभिमान में चूर हो तो भी पाप है, पुण्य तो कषाय की मंदता से होता है। पुण्य के बहाने अभिमान करे तो वह पाप है। पुण्य धर्मानुराग से होता है, ऐसा पुण्यभाव किसी समय किसी जीव के होता है। इच्छानुसार सामग्री का संयोग और वर्तमान मंदकषायरूप पुण्यपरिणाम तो किसी जीव के होते हैं तथापि एस जीव भी दुःखी हैं। हे जीव! अनादि-संसार में तूने अपार पापप्रवृत्तियों का ही सेवन किया है, पुण्य के कारणों का बहुत कम सेवन किया, और पुण्य-पाप से पार आत्मा के चैतन्यधर्म की तो क्षणमात्र भी तूने दरकार नहीं की, एक क्षण भी चैतन्यधर्म का सेवन नहीं किया। पुण्य में सुख मान लिया किन्तु वह दुःख है। पुण्य के फलस्वरूप सामग्री का संयोग प्राप्त होता है किन्तु उससे धर्म-सुख नहीं मिलता।

(८२) पाप और पुण्य के बीच विवेक, तथा पुण्य और धर्म की जाति का भिन्नत्व

जितना दान करो उससे हजारगुना फल मिलेगा,-ऐसी भावना से जो दान करते हैं उन जीवों ने तो वर्तमान में ही हजारगुनी तृष्णा की वृद्धि करके पापबंध किया है, सामग्री की तृष्णा और राग को कम करे तो पुण्य हो, उसके बदले उन्होंने तो हजारगुनी सामग्री की भावना करके तृष्णा और राग को बढ़ाया है। वे अपने पूर्णस्वभाव को भूले हैं इससे संयोगों में पूर्णता की इच्छा करते हैं। यह मिलेगा और वह मिलेगा —इसप्रकार सभी संयोगों की भावना करते हैं, किन्तु 'अब नहीं चाहिए'-ऐसा कभी कहते ही नहीं। इस संसार में अज्ञानियों

की तृष्णा अपार है उसका कहीं भी अन्त नहीं है। जो हजार गुना लेने की भावना से दानादि करे उसके तो पुण्यपरिणाम भी नहीं है। वर्तमान में अनुकूल सामग्री पूर्वपुण्य के कारण ही मिलती है, ऐसे पुण्यबंध के प्रसंग में जीव बहुत ही धर्म प्रवर्तन करता है। जहाँ पुण्य परिणामों का ही ठिकाना नहीं है वहाँ धर्म की तो दरकार ही कहाँ से होगी? इससे यह नहीं समझना चाहिये कि पुण्य का माहात्म्य बतलाते हैं। यद्यपि पाप की अपेक्षा पुण्यपरिणाम कम ही होते हैं, तथापि अनन्तवार पुण्य करके जीव उसके फलस्वरूप महान देव हुआ है, और वहाँ से पुण्य के फल को भोगने की रुचि के कारण फिर से पाप करके दुर्गतियों में परिभ्रमण किया है। तीर्थंकरभगवान के पुण्य की अनुमोदना करना, अर्थात् उनके पूर्वपुण्य के परिणामों को अच्छा मानना भी मिथ्यात्व ही है, तब फिर जिस तुच्छ पुण्य की मिठास है उसकी तो बात ही क्या? तीर्थंकर के पुण्य भी राग से बँधे हैं, उस राग के कारण आत्मा के गुणों में भंग पड़ते हैं, जिसके उस राग की अनुमोदना है उसे आत्मा के वीतरागी गुणों की भावना नहीं है। आत्मस्वभाव की और पुण्य की जाति ही भिन्न है, इसलिये जिसे आत्मा की रुचि है उसे पुण्य की रुचि होती ही नहीं और जिसे पुण्य की रुचि है उसे आत्मा के सम्यग्दर्शनादि की रुचि नहीं होती—उसे मिथ्यात्व की रुचि होती है। जैसे—कोई सज्जन मनुष्य निर्धन हो, और कोई दुर्जन-अनार्य मनुष्य धनवान हो, वहाँ 'मैं अनार्य के यहाँ पुत्र होऊँ' ऐसी भावना

सज्जन मनुष्य के कभी होती ही नहीं। उसी प्रकार जिसे सज्जनरूपी आत्मस्वभाव की पहिचान और भावना हो उस जीव के ऐसी दुभावना कभी नहीं होती कि—"मैं पुण्य करूं और उसके फल को भोगूं," क्योंकि पुण्य तो विकार है, अनात्म है आत्मस्वभाव की अपेक्षा से वह अस्पर्श्य है।

(८४) ज्ञानी समझते हैं कि आत्माके स्वभावमें रागद्वेष नहीं है।

एकबार किसी मनुष्य के दाहिने पैर में फोड़ा हुआ डाक्टर प्रतिदिन उसकी मरहम पट्टी करने आता था। जब डाक्टर दाहिने पैर को छुए तब वह मनुष्य चिल्लाना प्रारम्भ कर दे। ऐसा करते करते फोड़ा लगभग मिट गया, तथापि उसे चिल्लाने की आदत पड़ गई इसलिये चिल्लाता था। एकबार डाक्टर ने उस मनुष्य के बाएं पैर का स्पर्श किया तो भी वह चिल्लाया। तब डाक्टर ने कहा कि भाई! व्यर्थ ही क्या रोता है, तेरे दाहिने पैर का फोड़ा बाएँ पैर में नहीं आ जायेगा, तुझे तो व्यर्थ रोने चिल्लाने की आदत पड़ गई है। अपने को पीड़ा होती है या नहीं उसे जानने का अभिप्राय नहीं रखता किन्तु हाथ लगते ही दुःख मानकर रोने पीटने की आदत पड़ गई है।

जिसप्रकार दाहिने पैर का फोड़ा बाएँ पैर में नहीं आता, वैसे ही पूर्व की पर्याय के राग द्वेष वर्तमान पर्याय में नहीं आते। स्वयं वर्तमान में नये नये राग द्वेष करता रहता है। किन्तु यदि वर्तमान में ही स्वभाव के लक्ष्य से एकाग्र हो तो राग-द्वेष न हो। आत्मा के स्वभाव में राग द्वेष नहीं है, परवस्तु राग द्वेष नहीं कराती, और एक पर्याय से बदलकर दूसरी पर्याय में नहीं आ

रागरहित आत्मस्वभाव की दृष्टि न होने से वह ऐसा मान बैठा है कि पूर्व पर्याय के राग द्वेष चले आ रहे हैं। उसकी ऐसी मान्यता के कारण उसका पुरुषार्थ राग द्वेष मे ही रुक गया है और वही उसे एकत्वबुद्धि हो गई है। उस एकत्व बुद्धि को छुडाकर स्वभाव मे अभेददृष्टि कराने के लिये ज्ञानी उसे समझाते हैं कि हे भाई! तेरे स्वभाव मे राग द्वेष नही हैं, और वर्तमान पर्याय में जो राग-द्वेष होते हैं उनका दूसरे समय मे अभाव ही हो जाता है, तू व्यर्थ ही भ्रम मे पडकर राग द्वेष को अपना स्वरूप मान रहा है। तू विचार कर कि यह रागादि परिणाम कितने अनित्य हैं? कोई भी वृत्ति स्थिर नही रहती, इसलिये ऐसा तेरा स्वरूप नही हो सकता। इस प्रकार यदि तू अपने रागरहित चैतन्यस्वभाव का विश्वास कर तो तेरी पर्याय मे से भी राग द्वेष दूर होने लगेंगे। अपने स्वभाव के लक्ष्य से पर्याय मे भी वीतरागता की ही उत्पत्ति होगी। इसलिये तू राग-द्वेषरहित शुद्ध, ज्ञायकस्वभाव की पहिचान और श्रद्धा कर, यही दुःखो को दूर करने का उपाय है। जीव ने कभी अपनी ओर देखने का अभिप्राय ही नही किया कि—यह राग द्वेष नये नये होते हैं या सदैव वही के वही चले आते हैं? और यह राग द्वेष स्वभाव में हैं या नही? राग द्वेष अपने विपरीत पुरुषार्थ से नवीन नवीन होते हैं, तथा वे स्वभाव में नहीं हैं—ऐसा निश्चित् करके यदि स्वभाव की ओर उन्मुख हो तो राग से भिन्न स्वभाव कैसा है उसका अनुभव हो।

(१८) स्वभावदृष्टि से परिपूर्ण, निर्विकारी और असयोगी, तथा पर्यायदृष्टि से अपूर्ण, विकार और सयोगी— उसमें किसके लक्ष्य से सुख प्रगट होता है ?

शरीर, मन, वाणी से भिन्न, कर्मों से भिन्न और परभाव से राग द्वेषादि विकार भावों से भी भिन्न—ऐसा यह चैतन्य स्वरूपी आत्मा ज्ञान–दर्शन–सुख–वीर्य–आनन्द इत्यादि अनन्त गुणों का एकरूप पिंड अनादि अनन्त वस्तु है। 'मैं राग-द्वेषादि के साथ एकमेक हूँ, परपदार्थों के साथ मुझे कुछ सम्बन्ध है और मैं उनका कुछ कर सकता हूँ'—ऐसी परद्रव्य में अहंकार-रूप मिथ्यादृष्टि जीव की मूढ़ता है, वह मूढ़ता आत्मा की पर्याय है। यह क्षणिक, विकारीपर्याय संसार है–दुःख है।

जीव तो परिपूर्ण निर्विकारी और असयोगी है, किन्तु स्वयं अपने स्वभाव को भूला हुआ होने से उसके ज्ञान–दर्शन–वीर्य की अवस्था में अपूर्णता है, चारित्र श्रद्धा आदि की अवस्था में विकार है और निमित्तरूप आठों कर्म तथा शरीरादि का सयोग है। एवं जीव अपने स्वभाव को भूलकर मात्र पर्याय-दृष्टि से अपने को अपूर्ण–विकारी और सयोगी ही मानकर पर्यायमूढ़ हो रहा है, तथापि स्वभाव तो उस समय भी पूर्ण, विकाररहित और असयोगी है। स्वयं अपने को परि-पूर्ण, अविकारी तथा असयोगी माने तो सुख प्रगट हो ? अथवा अपूर्ण, विकारी और सयोग वाला माने तो सुख प्रगट हो ? पर्याय में रागादि तो हैं, यदि उन रागादि जितना ही

रागरहित आत्मस्वभाव की दृष्टि न होने से वह ऐसा मान बैठा है कि पूर्व पर्याय के राग द्वेष चले आ रहे हैं। उसकी ऐसी मान्यता के कारण उसका पुरुषार्थ राग द्वेष में ही रुक गया है और वही उसे एकत्वबुद्धि हो गई है। उस एकत्व बुद्धि को छुडाकर स्वभाव में अभेददृष्टि कराने के लिये ज्ञानी उसे समझाते हैं कि हे भाई ! तेरे स्वभाव में राग द्वेष नहीं हैं, और वर्तमान पर्याय में जो राग-द्वेष होते हैं उनका दूसरे समय में अभाव ही हो जाता है, तू व्यर्थ ही भ्रम में पड़कर राग द्वेष को अपना स्वरूप मान रहा है। तू विचार कर कि यह रागादि परिणाम कितने अनित्य हैं ? कोई भी वृत्ति स्थिर नही रहती, इसलिये ऐसा तेरा स्वरूप नही हो सकता। इस प्रकार यदि तू अपने रागरहित चैतन्यस्वभाव का विश्वास कर तो तेरी पर्याय में से भी राग द्वेष दूर होने लगेंगे। अपने स्वभाव के लक्ष्य से पर्याय में भी वीतरागता की ही उत्पत्ति होगी। इसलिये तू राग-द्वेषरहित शुद्ध, ज्ञायकस्वभाव की पहिचान और श्रद्धा कर, यही दुःखों को दूर करने का उपाय है। जीव ने कभी अपनी ओर देखने का अभिप्राय ही नहीं किया कि—यह राग द्वेष नये नये होते हैं या सदैव वही के वही चले आते हैं ? और यह राग द्वेष स्वभाव में हैं या नही ? राग द्वेष अपने विपरीत पुरुषार्थ से नवीन नवीन होते हैं तथा वे स्वभाव में नहीं हैं—ऐसा निश्चित् करके यदि स्वभाव की ओर उन्मुख हो तो राग से भिन्न स्वभाव कैसा है उसका अनुभव हो।

(४८) स्वभावदृष्टि से परिपूर्ण, निर्विकारी और असयोगी, तथा पर्यायदृष्टि से अपूर्ण, विकार और सयोगी— उसमें किसके लक्ष्य से सुख प्रगट होता है ?

शरीर, मन, वाणी से भिन्न, कर्मों से भिन्न और परमार्थ से राग-द्वेषादि विकार भावों से भी भिन्न—ऐसा यह चैतन्य स्वरूपी आत्मा ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-आनन्द इत्यादि अनन्त गुणों का एकरूप पिंड अनादि अनन्त वस्तु है। 'मैं राग-द्वेषादि के साथ एकमेक हूँ, परपदार्थों के साथ मुझे कुछ सम्बन्ध है और मैं उनका कुछ कर सकता हूँ'—ऐसी परद्रव्य के अहंकार रूप मिथ्यादृष्टि जीव की मूढ़ता है, वह मूढ़ता आत्मा की पर्याय है। यह क्षणिक, विकारीपर्याय संसार है—दुःख है।

'जीव' तो परिपूर्ण, निर्विकारी और असयोगी है, किन्तु स्वयं अपने स्वभाव को भूला हुआ होने से उसके ज्ञान-दर्शन-वीर्य की अवस्था में अपूर्णता है, चारित्र श्रद्धा आदि की अवस्था में विकार है और निमित्तरूप आठों कर्म तथा शरीरादि का सयोग है। एव जीव अपने स्वभाव को भूलकर मात्र पर्याय दृष्टि से अपने को-अपूर्ण-विकारी और सयोगी ही मानकर पर्यायमूढ़ हो रहा है, तथापि स्वभाव तो उस समय भी पूर्ण, विकाररहित और असयोगी है। स्वयं अपने को परि पूर्ण, अविकारी तथा असयोगी माने तो सुख प्रगट हो ? अथवा अपूर्ण, विकारी और सयोग वाला माने तो सुख प्रगट हो ? पर्याय में रागादि तो हैं, यदि उन रागादि जितना ही

उसके पुण्यपरिणाम अधिक हैं और जो उसमें अल्प समय रहे उनके पुण्यपरिणाम कम हैं—ऐसा माप नहीं है। किन्तु शुभ प्रसंगों में अधिक काल तक रहे तथापि कषाय की विशेष मन्दता न करे तो उसके विशेष पुण्य नहीं है, और अल्प समय ही वैसे प्रसंगों में रहे तथापि अन्तर में कषाय की मंदता अधिक करता हो तो उस जीव के विशेष पुण्य है। इसी प्रकार किसी के बाह्य में अधिकतर त्याग दिखाई देता हो तथापि पुण्यपरिणाम अल्प होते हैं और किसी के बाह्य में त्याग दिखलाई न देता हो तथापि पुण्यपरिणाम विशेष होते हैं। इसलिये बाह्य त्याग के ऊपर से उसका माप नहीं है। पुण्य की भाँति पाप का माप भी काल या संयोग के ऊपर से नहीं है किन्तु परिणामों से है। और धर्म का माप भी काल या त्याग से नहीं है। यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि जितने अंश में भूमिका में वृद्धि होती है उतने ही अंश में उस भूमिका के योग्य बाह्यत्याग भी सहजरूप से अवश्य होता ही है, (जैसे—सम्यग्दृष्टि के चौथी भूमिका में मांसाहार, मद्य, मधु, इत्यादि का त्याग, मुनिदशा में वस्त्रादि का त्याग।) किन्तु इस बाह्यत्याग से धर्म का माप नहीं है, क्योंकि ऐसा त्याग तो धर्मरहित जीव के भी हो सकता है। किसी जीव के बहुत समय से यथार्थ मुनिदशा प्रगट हो चुकी है और किसी दूसरे को कुछ ही समय पहले यथार्थ मुनिदशा हुई है, तो पहले जीव के अधिक शुद्धि होगी और दूसरे को उसकी अपेक्षा कम ही होगी—ऐसा कोई नियम नहीं

है। पश्चात् में मुनि हुआ जीव भी विशेष पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव में लीनता करे तो वह बहुत समय पूर्व मुनि हुए जीव से पहले केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। उपवासादि अधिक करे इससे शुद्धि का माप नहीं है किन्तु चैतन्यतत्त्व की अन्तर्लीनता पर से शुद्धि का माप है।

(८९) सुख–दुःख और उनके कारण

संसारदशा में मिथ्यादर्शनादि से जीव अनन्त दुःख भोग रहा है। प्रतिक्षण परपदार्थों के ओर की आकुलता होती है—वही दुःख है।

निराकुलता ही सुख का लक्षण है। सम्यग्दर्शन से अपने पूर्ण स्वभाव को जाने तो अभिप्राय में से, परपदार्थों में जो सुखबुद्धि है वह दूर हो जाये अर्थात् स्वभाव के लक्ष्य से उस अनन्त अनाकुलता का अनुभव हो। सम्यग्दर्शन के बिना अनन्त भी वास्तविक अनाकुलता नहीं होती, अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना अनन्त भी सुख नहीं होता। इन सम्यग्दर्शनादि साधनों के द्वारा सिद्धपद प्राप्त करने से जीव के सब दुःखों का विनाश होता है, और सम्पूर्ण सुख प्रगट अनुभव में आता है।

(९०) ग्रन्थकार प्रेरणा करते हैं

इसप्रकार इस तीसरे अध्याय में प्रथम तो यह सिद्ध किया कि संसारी जीवों को अनादिकाल से दुःख है, और उस दुःख के कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्या

चारित्र है–ऐसा बतलाया है। उन्हें दूर करने के लिये सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रगट करना चाहिये, वही सुख का कारण है। इसप्रकार दुःख तथा उसके कारण और सुख तथा उसके कारणों का वर्णन करने के पश्चात् अधिकार को पूर्ण करते हुए ग्रन्थकार प्रेरणा करते हैं–उपदेश करते हैं कि—हे भव्य! यहाँ संसार के जो दुःख बतलाये हैं उनका अनुभव तुझे होता है या नहीं? दुःखों को दूर करने के लिये जो-जो प्रयत्न तू कर रहा है, उनकी निरर्थकता–असत्यता दर्शायी है वह वैसा ही है या नहीं? और सिद्धदशा प्राप्त होने पर ही पूर्ण सुख होता है—यह बात यथार्थ है या नहीं?–यह सब विचार और इसका निर्णय कर। यदि उपरोक्तानुसार ही तुझे प्रतीति होती हो तो संसार से मुक्त होकर सिद्धदशा प्राप्त करने के जो उपाय हमने बतलाये हैं वे कर। विलम्ब मत कर। इन उपायों से तेरा कल्याण ही होगा!

★

चौथा अध्याय

(९१) मगलाचरण

भवना सव दु खो तगु कारण मिथ्याभाव,
तेनी सत्ता नाग कर प्रगटे मोक्ष उपाय।

भव के समस्त दु खो का कारण मिथ्या वभाव है, आत्म स्वरूप की यथाथ प्रतीति द्वारा उस मिथ्यात्व की सत्ता का नाश करने से सम्यग्दशनरूप मोक्ष का उपाय प्रगट होता है। यहाँ पर जा शुद्ध सम्यग्दशन प्रगट करने की प्रेरणा की उसे मगलाचरण समझना चाहिये।

ससार दु खो के मूल कारणरूप मिथ्यादर्शन–ज्ञान चारित्र है, इसलिये उन्हें छोडने के लिये उनका वि ोप वणन इस अध्याय में किया है।

(९२) दु ख दूर करने के लिये प्रथम स्व पर का भेदज्ञान होना चाहिये

दु खो को दूर करने के लिये पहले अपना और पर का भेदज्ञान अवश्य होना चाहिये। जीव को यदि स्व पर का ज्ञान ही न हो तो अपने को जाने बिना वह किसप्रकार अपना दु ख दूर करेगा? आत्मा पर से भि न स्वतन्त्र द्रव्य है, द्रव्य का विशेष (पर्याय) द्रव्य में ही होता है, पर में नहीं।

प्रत्येक द्रव्य का विशेष (पर्याय) उस द्रव्य के सामान्य स्व भाव मे से ही प्रगट होता है। सामान्य-विशेषत्व द्रव्य का ही स्वभाव है। किसी द्रव्य का विशेष किसी अन्य द्रव्य के आश्रित नही होता, इससे प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतन्त्र है। ऐसा स्व पर द्रव्यो की स्वतन्त्रता का यथार्थ ज्ञान सो भेदज्ञान है।

(६३) स्वभाव में एकत्वबुद्धि सो सुख, और विकार में एकत्वबुद्धि सो दुःख।

अपने को पर से भिन्न जानने के पश्चात् अपने मे दो पक्ष हैं, उन्हें जानना चाहिये। वर्तमान पर्याय मे विकार है, उसके साथ एकताबुद्धि ही दुःख का मूल है, और अपना त्रकालिक स्वभाव शुद्ध है, उसमें एकताबुद्धि सो सुख का मूल है। यदि अपने स्वभाव मे गुण गुणी की एकता की प्रतीति करे तो विकार के साथ की एकताबुद्धि दूर हो जाय। अपने आत्मा मे गुण गुणी की एकता की प्रतीति के बिना जीव के विकार की एकत्वबुद्धि दूर नही होती, और जबतक विकार में एकत्वबुद्धि हो, तबतक जीव कषाय की मन्दता कर सकता है किन्तु उसका अभाव नही कर सकता। तथा कषाय रहित स्वभाव की प्रतीति के बिना मात्र कषाय की मन्दता करे तो उससे बाह्य मे जड का सयोग मिल सकता है किन्तु स्वभाव की शुद्धि का लाभ नही होता। पहले से ही उस जीव को कषाय के साथ एकत्वबुद्धि होने से, उसके फलरूप जो सयोग है उनमे भी एकत्वबुद्धि से लीन हो जायगा और परिणामो में

ईर्शनरूप भावों का सेवन करके संसार में नीच गति में जावेगा। जैसे ज्ञान-दर्शनादि गुण त्रिकालस्वभावी द्रव्य के साथ एकता रखते हैं, वर्तमान में जो ज्ञानादि पर्यायें प्रगट हैं वे भी त्रिकाल द्रव्य के साथ एकत्व रखती हैं—इसप्रकार गुण-गुणी अभेदस्वभाव के निर्णय बिना, शास्त्रज्ञान से जीव नवतत्त्वादि को जाने और कषाय की मन्दता करे तो पुण्यबन्ध हो, किन्तु वह पुण्य आत्मा के स्वभाव के साथ एकता नहीं रखता, अर्थात् वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। उसके फलरूप तो जड़ का संयोग मिलता है अर्थात् पुण्य तो संयोग के साथ एकत्व रखता है, वह आत्मा को किंचितमात्र सुखदायी नहीं है। कषाय के अभावरूप वीतरागी चैतन्यभाव स्वभाव के साथ एकत्व रखता है, इसलिये नवतत्त्वादि को जानकर भी अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा करके उसमें पर्याय का अभेद करना—लीन करना यह प्रयोजन है।

(६४) धर्म का सम्बन्ध कषाय की मन्दता के साथ नहीं किन्तु स्वभाव के साथ है।

जो जीव शुद्ध स्वभाव की प्रतीति का प्रयत्न करे उसके कषाय की मन्दतारूप पुण्य तो होता ही है, किन्तु जिसका लक्ष्य कषाय की मन्दता पर है वह जीव स्वभाव को नहीं समझ सकेगा। जो जीव स्वभाव के लक्ष्य से समझना चाहता है उसके सहज ही मन्द कषाय हो जाती है, किन्तु उसका लक्ष्य कषाय की मन्दता पर नहीं होता। जो शुद्धात्मस्वभाव को समझे उसके देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नवतत्त्वों का ज्ञान

की तीव्र गृद्धि का त्याग, इत्यादि मन्दकषाय तो होती है, अर्थात् पुण्य तो होता है, किन्तु उससे जीव का कल्याण नही है। यदि उस पुण्य की रुचि को छोड़कर स्वभाव में उन्मुख होजाये तो उपचार से पुण्य को निमित्त कहा जाता है, किन्तु स्वभाव के लक्ष्यरहित मात्र पुण्य को तो उपचार से भी धर्म का निमित्त नही कहा जा सकता। दोनो पुण्य का फल तो ससार ही है। कषाय की मंदता का सम्बन्ध संयोग के साथ है, कषाय के अभाव का सम्बन्ध स्वभाव के साथ है। कषाय की मन्दतारूप जो पुण्य है वह संयोग के साथ एकत्व रखता है और कषाय के अभावरूप धर्म है वह गुणस्वभाव के साथ एकत्व रखता है।

पर की ओर के लक्ष्य से कुछ भी वृत्ति हो वह धर्म नहीं है। इन्द्र-इन्द्रानी को भगवान अरहतदेव के प्रति भक्ति का जो विकल्प उठे वह विकल्प भी दुःखदायक है-आस्रव है। धर्म तो आत्मस्वभावरूप है, राग की वृत्ति के उत्थान से रहित है। पुण्य सो विकार और धर्म सो अविकार, इन दोनो की एकता त्रिकाल में भी नहीं होती।

(९५) सम्यक्श्रद्धा किसका अवलम्बन करती है?

"मैं चैतन्य हूँ, पुण्य पाप मेरा स्वरूप नही है"—ऐसा विकल्प नही, किन्तु साक्षात् वैसा अनुभव करने से सम्यक्श्रद्धा होती है। जिस क्षण स्वभाव की श्रद्धा करता है उसी क्षण शुद्धता का अनुभव होता है। स्वभाव की श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) को शुद्ध स्वभाव का ही अवलम्बन है किन्तु देव-गुरु-शास्त्र अथवा शुभ विकल्पों का अवलम्बन उसे नही है। सम्यक्श्रद्धा की भूमिका

के साथ पुण्य होता अवश्य है, किन्तु उस पुण्य के अवलम्बन से सम्यक्श्रद्धा नहीं है। जिसके शुद्धस्वभाव की रुचि हो उसे पुण्य की भावना नहीं होती और जिसके पुण्य की भावना होती है उसे शुद्धस्वभाव की रुचि नहीं होती। सम्यक्श्रद्धा होने से उसी समय समस्त पुण्य पाप दूर नहीं हो जाते, किन्तु श्रद्धा के अभिप्राय में तो सब शुभाशुभ परिणामों का अभाव ही होता है, श्रद्धा उन्हें स्वभावरूप से स्वीकार नहीं करती।

(६६) मात्र उपयोग को बदलना है

इस धर्म में क्या करना आया? प्रथम, आत्मा जड़ का तो कुछ करता नहीं है, और जड़ में आत्मा का धर्म नहीं होता। अमुक पुण्य करो, दान करो या भक्ति करो—ऐसा भी नहीं कहा है, क्योंकि वह सब विकार है—धर्म नहीं है। किन्तु अपने चैतन्य उपयोग को परोन्मुख करके वहीं लीन हो रहा है, उस 'उपयोग को स्वभावोन्मुख करके वहाँ लीन करना है।' 'पुण्य पाप मेरे हैं'—ऐसी मान्यता करके अपने उपयोग को वहाँ रोक दिया है, वही अधर्म है उस उपयोग को स्वभावोन्मुख करके, 'शुद्ध चैतन्यमूर्तिस्वभाव ही मैं हूँ'—ऐसी स्वभाव की ओर की श्रद्धा प्रथम करना है और वही प्रथम धर्म है। तथा उसके पश्चात् भी बाह्य में कुछ करना शेष नहीं रहता, और व्रत तपादि का जो शुभराग आता है वह भी धर्मात्मा का कर्तव्य नहीं है, किन्तु जिस शुद्धस्वभाव की श्रद्धा की है उसी शुद्धस्वभाव में उपयोग को लगाना ही सम्यक्चारित्र और ... का मार्ग है। धर्म के प्रारम्भ से

क्रिया

है कि–'शुद्धात्मस्वभाव में चैतन्यउपयोग को लीन करना।' इसके अतिरिक्त अन्य कोई क्रिया धर्म में नहीं आती। जितनी स्वभाव में लीनता उतना ही धर्म है, और जितनी कमी है उतना दोष है।

(८७) शरीर की क्रिया, प्रदेशों का क्षेत्रान्तर और इच्छा, —इन तीनों की स्वतंत्रता।

यद्यपि परमार्थ से तो आत्मा का और शरीर का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है, किन्तु व्यवहार से आत्मा और शरीर का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है इसलिये जो परमार्थ को नहीं जानता, ऐसा अज्ञानी जीव शरीर से होने वाली सभी क्रियाओं को अपनी मानता है। निमित्त अनुकूल ही हो, किन्तु उस निमित्त के कारण से कार्य होता है–ऐसा नहीं है। शरीर गिर जाता है उस समय आत्मा भी गिर जाता है, किन्तु शरीर गिरा इसलिये आत्मा गिर गया ऐसा नहीं है किन्तु शरीर की अवस्था शरीर के कारण हुई है और उसी समय आत्मा के प्रदेशों की योग्यता उसप्रकार क्षेत्रान्तर होने की थी इससे आत्मप्रदेशों की भी अवस्था वैसी ही हुई है।

प्रश्न —आत्मा को गिरने की इच्छा नहीं होती, तथापि क्यों गिरता है?

उत्तर —गति इत्यादि की इच्छा होना सो चारित्रगुण का विकार है और प्रदेशों का क्षेत्रान्तर होना सो क्रियावती शक्ति का विकार है। चारित्रगुण और क्रियावती शक्ति भिन्न

है इसके इच्छा के कारण प्रदेशों का क्षेत्रान्तर नहीं होता। प्रदेशों का क्षेत्रान्तर इच्छा की अपेक्षा नहीं रखता। नरक में जाने की इच्छा न होने पर भी बसे भाव करने से जीव नरक में जाता है, और केवली भगवान के इच्छा का सर्वथा अभाव होने पर भी विहार के समय प्रदेशों का क्षेत्रान्तर होना है। इच्छा और प्रदेशों का क्षेत्रान्तर यह दोनों पर्यायें भिन्न-भिन्न गुण की हैं। इच्छा प्रदेशों का क्षेत्रान्तर और शरीर का हलन चलन यह तीनों स्वतंत्र हैं।

शरीर में हलन चलनादि अवस्था हुई उसके कारण से आत्मप्रदेशों का क्षेत्रान्तर हुआ अथवा इच्छा हुई—ऐसा नहीं है। आत्मप्रदेशों का क्षेत्रान्तर हुआ उसके कारण से शरीर में हलन चलन हुआ अथवा इच्छा हुई—ऐसा नहीं है, और इच्छा हुई इसलिये शरीर का हलन चलन या आत्मप्रदेशों का क्षेत्रान्तर हुआ—ऐसा भी नहीं है तीनों की अवस्था अपने अपने स्वतंत्र उपादान से होती है तथापि आत्मप्रदेशों का और शरीर का जब निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध हो, तब शरीर में हलन चलन होता हो और वहाँ के आत्मप्रदेश स्थिर हों—ऐसा नहीं होता, तथा आत्मप्रदेशों का हलन चलन होता हो और उस समय वहाँ का शरीर स्थिर हो—ऐसा भी नहीं होता। तथा आत्मप्रदेश यहीं पड़े रहें और शरीर अन्यत्र कहीं चला जाये—ऐसा भी नहीं हो सकता। इसप्रकार निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध [illegible] है क्रिया स्वतंत्र है। जीव इच्छा करे [illegible] शा में तथा

शरीर म हलन चलन नही भी हो–यह भी क्रिया की स्वतन्त्रता को सिद्ध करता है।

(६८) उपादान-निमित्त

उपादान के काय को अनुकूल निमित्त होता है, किन्तु निमित्त उपादान में कायकारी नही है। यदि निमित्त मे उपादान मे किंचित् भी काय होता हो तो निमित्त स्वय ही उपादानरूप हो जाय, और यदि वह अनुकूल न हो तो निमित्त ही नही कहलायेगा। उपादान और निमित्त दोनो पदाथ तो हैं, किन्तु उन दोनो की स्वतन्त्रता को न जानने वाले अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि 'निमित्त से काय होता है, निमित्त मिला तब काय हुआ अथवा निमित्त के प्रभाव से काय हुआ। परन्तु वस्तुस्वरूप की स्वतन्त्रता है। समस्त पदार्थों की अवस्था स्वय अपने कारण स—प्रतिसमय की स्वतन्त्र योग्यता स—प्रति क्षण हो रही है।

प्रश्न —जीव के ज्ञानावरणादि आठो कर्मों का उदय तो एक ही साथ है, तथापि जीव के ज्ञान की हीनता में ज्ञानावरण कम को ही निमित्त कहा जाता है और अन्य कर्मों को नही–इसका क्या कारण है?

उत्तर —आठो कम होने पर भी ज्ञानगुण की हीनता के समय ज्ञानावरण कम ही अनुकूल निमित्त है। ज्ञानावरण कम में ही निमित्तपने की ऐसी योग्यता है कि ज्ञान की हीनता के समय उसी म निमित्तपने का आरोप आता है। जिस जाति का गुण हीनरूप परिणमन करे उसके अनुकूल जो

कम हो उसी को निमित्त कहा जाता है, क्योंकि निमित्त प्रतिकूल ही होता है। किंतु अनुकूल निमित्त का अर्थ यह नहीं कि–उस निमित्त ने ज्ञान को रोका है। निमित्त–उपादान का ज्ञान करने का प्रयोजन तो, निमित्त और निमित्त के लक्ष्य से होने वाली अवस्था–उन दोनों का लक्ष्य छोड़कर अपने स्वभाव का लक्ष्य करना है। किन्तु निमित्त–जो कि परद्रव्य हैं, जिन्हें जीव प्राप्त नहीं कर सकता और जो जीव के आधीन नहीं हैं–उन्हें प्राप्त करने के भाव में रुक जाना वह उपादान निमित्त के ज्ञान का प्रयोजन नहीं है।

जीव को जब क्रोध हो उस समय चारित्रमोहकर्म के उदय को निमित्त कहा जाता है। उदय बलवान है–ऐसा निमित्त का कथन है, वह यह बतलाता है कि उस समय जीव का पुरुषार्थ निर्बल है। चारित्रमोह के उदय के कारण क्रोध नहीं होता किंतु जीव जब अपने स्वभाव का पुरुषार्थ छोड़कर क्रोध करे तब उस कर्म के उदय को निमित्त कहा जाता है। जीव क्रोध करे तब आँखें लाल हो जाती हैं, वहाँ क्रोध का निमित्त मिला इसलिये आँखें लाल हो गई–ऐसा नहीं है, किन्तु आँखों के परमाणु अपनी स्वतंत्र क्रिया से लाल परिणमित हुए हैं, क्रोध के कारण परिणमित नहीं हुए हैं। आँखों का लाल होना वह परमाणुओं की क्रिया (रंग गुण की अवस्था) है, और जो क्रोध हुआ वह जीव की क्रिया (चारित्र-गुण की अवस्था) है–दोनों स्वतंत्र हैं।

(६६) जीव धर्मकार्य कब करेगा?

भाई! तुम आत्मा हो, । [illegible] य है, तुम

अमूर्त हो, और यह शरीर जड है, वह मूर्त है, तुम से भिन्न है। आत्मा अपनी अवस्था मे काय कर सकता है, किन्तु शरीरादि परपदार्थों की अवस्था म वह काय नही कर सकता। ऐसा समझकर यदि जीव अपने स्वभाव में रहे तो वह विकारी काय का कर्ता भी न हो, किन्तु मात्र शुद्धपर्याय का ही कर्ता हो। शुद्धपर्याय ही धमकाय है।

(१००) स्वतत्र परिणमन

जड और चेतन पदार्थों का परिणमन स्वतत्र है। जड पदार्थों को परिणमन में चेतनगुण की आवश्यकता नहीं है। जड पदार्थों में चेतनगुण न होने पर भी उनका परिणमन स्वय से ही होता है, क्योकि परिणमन करना प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है।

(१०१) जड़-चेतन का भेदज्ञान उसका फल— वीतरागता

ऐसा कहा जाता है कि बिल्ली चूहे को पकडती है, वहाँ यदि वास्तविक भेदज्ञान स देखें तो बिल्ली का आत्मा और उसका शरीर भिन्न हैं, उनम बिल्ली के आत्मा ने तो चूहे का ज्ञान किया है और साथ ही उसे मारकर खाने का अत्यन्त तीव्र गृद्धिभाव किया है, तथा मुह से चूहे को पकडन की क्रिया जड परमाणुओ के स्वतत्र कारण से हुई है। इस प्रकार सवत्र जड–चेतन की स्वतत्रता है। जड–चेतन के ऐसे भेदज्ञान की प्रतीति का फल वीतरागता है। यथाय समझे तो

तब ज्ञान उपशम हो जाये। किन्तु यदि कोई ऐसा कहे
"खाना पीना इत्यादि समस्त क्रियाएँ शरीर की हैं" और
उनके प्रति किंचित् उदासीनता न हो तीव्र गृद्धि-
पूर्वक आचरण करता रहे, तो उसे यथार्थरूप से स्व-पर का
ज्ञान ही नहीं हुआ है, वह मात्र स्वच्छन्द के पोषण के लिये
बातें बनाता है। यद्यपि जड की क्रिया तो जड से ही होती
है परन्तु तू यदि वास्तव में अपने आत्मस्वभाव को पर से
भिन्न जानता हो तो तुझे पर द्रव्यों को भोगने की रुचि-भाव
क्यों होता है? एक ओर जड से भिन्नत्व की बातें करना
और फिर जड की रुचि में एकाकाररूप से तल्लीन होकर
वर्तन करना-यह तो स्पष्ट स्वच्छन्द है, यह भेदज्ञान नहीं है।

(१०२) ज्ञानी भेदज्ञान कराते हैं

प्रश्न—ऐसा सूक्ष्म ज्ञान करके हमें क्या करना है?

उत्तर—तुम्हें यह पहिचान कराना है कि तुम्हारा आत्म-
स्वभाव कैसा है। ज्ञानीजन स्वयं पर से भिन्न आत्मा का
अनुभव करके कहते हैं कि हे भाई! तुम आत्मा हो, चैतन्य-
स्वरूप हो, जगत के स्वतन्त्र-भिन्न तत्त्व हो, और जड शरीर के
रजकण भी जगत के स्वतन्त्र तत्त्व हैं उनकी अवस्था उनकी
स्वतन्त्र शक्ति से होती है तुम उसके कर्ता नहीं हो। तुम अपनी
पर्याय में जो मान और क्रोधादि भाव करते हो वे शरीर तुम्हें
नहीं कराता। तुम भिन्न हो और परमाणु भिन्न हैं। तुम्हारी
शक्ति और परमाणु की शक्ति भिन्न है, तुम्हारा कार्य और
परमाणु का कार्य भी भिन्न है इसतरह सर्वप्रकार से जड से

भिन्नत्व है, इसलिये तुम अपने चैतन्यस्वभाव को देखो! और पर की क्रिया तुम्हारे आधीन नहीं है इसलिए उसका स्वामित्व छोड़ दो, 'हम इसे ग्रहण कर लें और इसे छोड़ दें'-ऐसा तुम अज्ञान से मान रहे हो, किन्तु तुम से पर में कुछ भी हानि-वृद्धि नहीं हो सकती, तुम्हारा कार्य मात्र ज्ञान करने का है, विकार करने का कार्य भी वास्तव में तुम्हारा नहीं है, इसलिये पर के कर्तृत्व की मान्यता को छोड़ दो! पर में हमारा सुख है, विकार हमारा स्वरूप है, यह मान्यता भी छोड़ दो! और पर से तथा विकार से भिन्न मात्र चैतन्यस्वरूप-ऐसे अपने आत्मा को जानकर उसी की श्रद्धा करो!

(१०३) आत्मा स्वयं चैतन्यस्वरूप होने पर भी उसकी भूल कैसे हुई?

प्रश्न —आत्मा तो स्वयं चैतन्यस्वरूप, जड़ से भिन्न है, तथापि 'मैं शरीर का और विकार का कर्ता हूँ'—ऐसी उसकी भूल कैसे हुई?

उत्तर —इस आत्मा को अनादिकाल से इन्द्रियजनित ज्ञान है, उस इन्द्रियजनित ज्ञान द्वारा अमूर्तिक चैतन्यस्वरूप तो स्वयं अपने को भासित नहीं होता किन्तु मूर्तिक शरीर का ही प्रतिभास होता है। और इसलिये-स्वयं अपने मूल स्वरूप को न जानने से-किसी अन्य को आपरूप मानकर उसमें अहंबुद्धि अवश्य धारण करता है। स्वयं अपने को पर से भिन्न चैतन्यस्वरूपी भासित नहीं हुआ, इसलिये जड़ शरीर में और शरीर के लक्ष्य से होने वाले विकारी भावों में ही वह

अपना स्वरूप मान रहा है। इसप्रकार इन्द्रियज्ञान के अव लम्बन के कारण अपने सच्चे स्वरूप की अज्ञानता ही सब भूलों का मूल है।

(१०४) यह भूल कैसे दूर हो ?

इस भूल को दूर करने के लिये सम्यग्ज्ञान द्वारा आत्मा का सच्चा स्वरूप जानना चाहिये। इसलिये श्री गुरुदेव कहते हैं कि तू इन्द्रियाश्रित ज्ञान को छोड़कर आत्माश्रित सम्यग्ज्ञान से देख तो तुझे आत्मा का शुद्ध स्वरूप ज्ञात हो। जड़ से भिन्न आत्मा का स्वरूप और उसकी चैतन्यक्रिया सम्यग्ज्ञान से ज्ञात होती है और यह जानने पर जड़ की और विकारी क्रिया का स्वामित्व छूट जाता है। अंतरंगस्वभाव की ओर उन्मुख होकर शांत होकर अतीन्द्रिय ज्ञान से अन्तर में नहीं देखता और मात्र इन्द्रियज्ञान से पर की ओर ही देखता रहता है। आत्मा अथवा आत्मा का भाव ऐसे नहीं हैं कि वे इन्द्रिय ज्ञान से जाने जा सकें। जड़-चेतन के भिन्नत्व का न्यायी ज्ञान-यथार्थ ज्ञान प्रगट करना वह आत्मा के आधीन है वह भेद ज्ञान करने की शक्ति अतीन्द्रिय ज्ञान में है चैतन्यस्वभाव के आश्रय से ही वह ज्ञान प्रगट होता है। इन्द्रियाँ तो जड़ हैं, उनके अवलम्बन से होने वाले इन्द्रियज्ञान में न्याय करने का यथार्थ जड़-चेतन का भेदज्ञान करने की शक्ति नहीं है।

(१०५) अधर्मदशा और धर्मदशा

परलक्ष्य से जितने भाव हों वे सब विकार हैं—फिर चाहे वे भाव तीर्थंकर की स्तुति के हों या जीवहिंसा

दोनो प्रकार के भाव परलक्ष्य से होने के कारण विकार है। और उस विकार को अपना स्वरूप मानना सो अपने धर्म-स्वरूप की हिंसा है और धर्मस्वरूप की हिंसा ही जगत में सबसे महान् पाप है। जहाँ धर्मस्वरूप आत्मा का भान न हो वहाँ पर का और विकार का स्वामित्व होता ही है अर्थात् अधर्म ही होता है। और जहाँ धर्मस्वरूप आत्मा का भान हो वहाँ परलक्ष्य से होने वाले किसी भी शुभाशुभभावरूप अधर्म का स्वामित्व होता ही नहीं।

(१०६) वीतराग भगवान किसके निमित्त हैं ? वीतरागता के अथवा राग के ?

सर्वज्ञ वीतरागदेव गुणमूर्ति हैं उनमें किंचित् भी रागादि दोष नहीं हैं उनका स्वभाव शरीर–मन–वाणी के अवलम्बन से पार और राग से भी पार शुद्ध चैतन्यरूप है, इसलिये वे तो अन्य जीवों को गुण के ही निमित्त हैं। उनमें गुण ही हैं, इससे वे अन्य जीवों को भी शुद्ध आत्मस्वरूप दर्शाने में ही निमित्त हैं, किन्तु रागी स्वरूप दर्शाने में निमित्त नहीं हैं क्योंकि उनमें राग नहीं है–यह बात भगवान की ओर की हुई।

अब इस जीव की ओर से लेने पर–अपनी अपेक्षा से भगवान पर हैं इसलिये वे इस जीव को राग के ही निमित्त हैं। भगवान के ऊपर का लक्ष्य सो परलक्ष्य है, परलक्ष्य से तो राग ही होता है। यदि शुभराग करे तो शुभ का निमित्त कहा जाता है और अशुभ राग करे तो अशुभ राग का निमित्त भी कहा जाता है।

भगवान की अपेक्षा से तो वे वीतरागता के ही निमित्त हैं, किन्तु वीतरागता के (—निर्मल पर्याय के) निमित्त किस जीव को कहे जाते हैं? जिस जीव को पहले तो भगवान का लक्ष्य हो किन्तु भगवान के लक्ष्य में ही न अटक कर, उनका लक्ष्य छोड़कर अपने स्वभाव का लक्ष्य करके वीतरागी दृष्टि प्रगट करे उस जीव के लिये उपचार से भगवान वीतरागता के निमित्त कहे जाते हैं। जो जीव भगवान का लक्ष्य छोड़कर स्वयं वीतरागता प्रगट करे उसके लिये उपचार से भगवान को निमित्त कहा जाता है, किन्तु जो अपने में वीतरागी दृष्टि प्रगट न करे और भगवान के लक्ष्य में ही रुका रहे उसके लिये भगवान को उपचार से भी वीतरागता का निमित्त नहीं कहा जाता, उसे तो वे राग के ही निमित्त हैं।

अथवा अन्य प्रकार से कहा जाये तो भगवान सीधे तो राग के ही निमित्त हैं और परम्परा से वीतरागता के निमित्त हैं। यह किस प्रकार?—यह समझाया जाता है। जब तक भगवान के ऊपर लक्ष्य हो तब तक तो जीव को राग ही होता है, इसलिये सीधी रीति से तो भगवान राग के ही निमित्त हैं, किन्तु जब भगवान का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव की ओर उन्मुखता करके सम्यग्दर्शनादि वीतरागी भाव प्रगट करता है तब, पूर्व में जो भगवान की ओर लक्ष्य था उसका उपचार करके भगवान को उस वीतरागभाव का निमित्त कहा जाता है।

(१०७) अज्ञानी का भ्रम, उसका कारण, और उसे दूर करने का उपाय

जीव स्वयं देखता जानता है, परन्तु स्वयं देखता

है वसा मानता नही है, कि तु साथ ही अपनी विपरीत मा यता को मिलाता है। जीव को अनादि से इन्द्रियज्ञान है, उस ज्ञान द्वारा आत्मा तो दिखाई नही देता कि तु मूत पदाथ दिखाई देते हैं। इन्द्रियज्ञान से इतना ज्ञात होता है कि 'यह हाथ चला' कि तु जीव विपरीत श्रद्धा से एसा मानता है कि आत्मा ने हाथ चलाया। आत्मा तो उसे दिखाई नही देता, और हाथ ही स्वय चलता हुआ दिखाई देता है, कि तु अज्ञानी जीव विपरीत मानता है। आत्मा के चत यभावो को इन्द्रिय द्वारा होने वाले ज्ञान से नही दख सकता, इसलिये आत्मा को और शरीर की क्रियाओं को वह जीव भि न नही जानता, कि तु एकमेक मानता है। यदि सम्यग्ज्ञान के अभ्यास द्वारा जड और चेतन को भि न भि न स्वरूप से यथाथतया पहिचाने तो उसका यह भ्रम दूर हो जाये।

(१०८) जीव शरीर को अपना क्यों मानता है?

प्रश्न—आत्मा अनादिकाल से शरीर के साथ ही रहा है, कभी भी शरीर के बिना नही रहा इस कारण वह शरीर क साथ एक त्व मानता है—यह ठीक है?

उत्तर—अनादिकाल से आत्मा शरीर स भि न ही भि न रहा है, एक क्षणभर को भी एकमक नही हुआ निर तर भि न ही है। अज्ञानदशा म भी जीव और शरीर तो भि न ही हैं, कि तु अज्ञानी जीव आत्मा के चत यलक्षण को नही जानता इसलिये शरीर को अपना मानता है।

(१०६) क्षायिक सम्यक्त्व और भव

प्रश्न —क्षायिक सम्यक्त्व में कितने भव होते हैं?

उत्तर —क्षायिक सम्यक्त्वमें एक भी भव नहीं होता, क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व तो शुद्धता है और भव का कारण तो विकार है, गुण कहीं भव का कारण नहीं है। (यहाँ 'गुण' कहने से 'शुद्ध पर्याय' समझना चाहिये।)

प्रश्न —जिसके क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ हो किन्तु अभी चारित्र का दोष हो, वैसे जीव को कितने भव (अधिक से अधिक) होते हैं?

उत्तर —क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव को चारित्र के विकार के कारण अधिक से अधिक चार भव (वर्तमान भव सहित) होते हैं। जिस भव में क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ हो, उस भव के पश्चात् तीन भव से अधिक नहीं होते।

इसमें, सम्यक्त्व भव का कारण नहीं है, किन्तु चारित्र का दोष भव का कारण है—ऐसा कहकर गुण—दोष के बीच का भेद ज्ञान भी कराया है।

(११०) नैगमनय का आरोप कब लागू होता है?

प्रश्न —किसी जीव के वर्तमान में अंश प्रगट हुआ हो, और उस अंश में नैगमनय से पूर्ण का आरोप करना—वह तो ठीक है, वहाँ तो नैगमनय से जो आरोप किया है उसके अंश का प्रारम्भ हो गया है। किन्तु जिस जीव के वर्तमान में उस प्रकार का प्रारम्भ किसी भी अंश में न हुआ हो वैसे जीव में

नगमनय से आरोप कर सकते हैं या नहीं ? अथवा जिसके वतमान मे कुछ अश में प्रारम्भ हो गया हो उसे ही नगमनय का आरोप लग सकता है ?

उत्तर —वतमान में ही उस प्रकार का अश प्रारम्भ हुए बिना नगमनय लागू नहीं हो सकता। किन्तु यदि वतमान मे ही उस प्रकार का अशत परिणमन प्रारम्भ हो गया हो और श्रुतज्ञानी के ज्ञान में उस अश का ख्याल आ जाये तभी उसके नगमनय का आरोप लागू हो सकता है। यदि उसके किसी भी प्रकार के अश का प्रारम्भ न हुआ हो तो श्रुतज्ञानी को उसकी खबर किस प्रकार पडेगी ? और अश का प्रारम्भ तो हुआ हो तथापि यदि श्रुतज्ञानी को उस अश का ख्याल न आये तो उस पूण का अनुमान किसप्रकार कर सकता है ? और अश मे पूण का आरोप भी किसप्रकार कर सकता है ? नय तो श्रुतज्ञानी के ज्ञान म होते हैं। इसलिये अशत प्रारम्भ हुआ हो और श्रुतज्ञानी के ख्याल मे आय, पश्चात् उस अश में पूण का आरोप करे तो वहाँ नैगमनय लागू हुआ कहा जाता है।

(१११) पुरुषार्थ की परोन्मुखता

जीव में वीय (पुरुषाथ) नाम का गुण है और उस गुण में प्रतिक्षण काय हो रहा है, अर्थात् जीव प्रतिक्षण पुरुषाथ तो करता है, किन्तु अपने शुद्ध स्वभाव की रुचि और ज्ञान न होने से वतमान में पुरुषाथ परोन्मुख होता है, स्वभाव की रुचि और ज्ञान करके उस पुरुषाथ को स्वभावोन्मुख करना है।

(११२) पाप, पुण्य और धर्म

संसार में पाप की अपेक्षा पुण्य को अच्छा कहा जाता है, और इससे किसी समय किसी जीव को पाप से छुड़ाने के लिये पुण्य करने का उपदेश ज्ञानी भी देते हैं, किन्तु ज्ञानी उसमें धर्म कभी नहीं मनाते। धर्म की अपेक्षा से तो पुण्य और पाप—दोनों बन्ध के ही कारण होने से समान ही हैं, दोनों प्रकार के भाव विकार हैं, आत्मा के अविकारी धर्म से विरुद्ध भाव हैं, इसलिये दोनों छोड़ने योग्य हैं।

(११३) बन्ध का अधिक कारण कौन है ?

प्रश्न—पुण्य और पाप दोनों बन्ध के ही कारण हैं, तो उनमें बन्ध का अधिक कारण कौन होगा ?—पुण्य या पाप ?

उत्तर—वास्तव में तो 'पुण्य पाप मेरे'—ऐसा मानना अथवा पुण्य अच्छा और पाप बुरा इसप्रकार दोनों में भेद मानना वह मान्यता ही महान् बन्ध का कारण है। पुण्य पाप मेरे हैं—ऐसा जो जीव मानता है वह चाहे शुभ करे या अशुभ, किन्तु उसके तीव्र बन्धन होता ही रहता है। मूल बन्ध का कारण मिथ्या श्रद्धा है, वह दूर हो जाने के पश्चात् पुण्य पाप के भावों से जो बन्धन होता है वह तीव्र बन्धन नहीं है और वह दीर्घ संसार का कारण नहीं है। ज्ञानी की दृष्टि में उसका स्वामित्व नहीं होता। शुभाशुभ परिणाम का स्वामित्व तो मिथ्या दर्शन है।

निश्चय से शुभ और अशुभ दोनों समानरूप से बन्ध के ही कारण हैं, किन्तु जब शुभाशुभभावरहित निर्विकल्प दशा में

स्थित न रह सके उस समय पापभावो को छोडकर ज्ञानी पुण्य-भावो मे युक्त होते हैं, क्योकि पुण्यभाव मे मन्द कषाय है और पापभाव मे तीव्र कषाय है। पुण्य, ससार म शुभ गति का कारण है और पाप दुगति का कारण है। इसलिये व्यवहार से पुण्य को मन्द बन्ध का और पाप को तीव्र बन्ध का कारण कहा जाता है। किन्तु जिसे पुण्य की रुचि है उसे तो पुण्य या पाप—दोनो के समय मिथ्यात्व का अनन्त बन्धन होता है।

(११४) आत्मा की ओर प्रेम कब जागृत होता है ?

जीव ने अनादि से यही ध्यान म नही लिया कि आत्म स्वभाव क्या है ! इसलिये उसे जड शरीर का और विकार का प्रेम है, किन्तु आत्मा का प्रम नही है। यदि एकबार भी यथाथ उल्लास से आत्मस्वभाव क प्रति प्रम जागृत हो तो अल्पकाल मे ही मुक्तदशा हो जाय।

प्रश्न —आत्मा की ओर प्रेम कब जागृत होता है ?

उत्तर —आत्मा की पहिचान करने पर ही उसकी ओर सच्चा प्रेम जागृत होता है। वस्तु के स्वरूप को जाने बिना उसकी महिमा नही आती और उसकी ओर प्रेम नही होता। जसे लोकव्यवहार मे-कोई सम्बधी मनुष्य परदेश में प्रतिदिन मिलता हो, किन्तु जबतक पहिचान न हो कि वह कौन है तबतक उसके प्रति प्रेम नही होता किन्तु जब यह खबर पडे कि यह तो हमारे गाव का और हमारा कुटुम्बी है, तो उसी समय उसके प्रति प्रेम जागृत हुए बिना नही रहता। पहले भी वही मनुष्य था और इस समय भी वही है, तथापि

पहले पहिचान न होने के कारण प्रेम नही था, और अब पहिचान हो गई इसलिये प्रम हुआ है। उसी प्रकार यह ज्ञानस्वभावी आत्मा निरंतर अपने पास ही है, प्रतिक्षण जानने का काम करता है, किन्तु स्वय अपने स्वभाव को नही जानता इसलिये उसे अपने आत्मस्वभाव के प्रति उल्लास और प्रेम जागृत नही होता। आत्मा तो सदव अपने पास ही है—स्वय ही आत्मा है, किन्तु स्वय अपने आत्मस्वरूप की यथाथ पहिचान नही है और उसे अन्यरूप (विकार या जडरूप) मान रहा है इससे स्वभाव का यथाथ प्रेम जागृत नही होता। किन्तु यदि आत्मा की सच्ची पहिचान करे तो उसे खबर हो कि अरे! यह आत्मा तो विकारी नही है, जड नही है, किन्तु उनसे भिन्न चैतन्यस्वरूप है और वही मैं हूँ–यही मेरा स्वरूप है, ऐसा भान होने पर आत्मा के प्रति अपूर्व प्रम जागृत होता है। पहले भी आत्मा का स्वभाव तो यही था और इस समय भी आत्मा यही है, किन्तु पहले अपने स्वभाव की स्वय को पहिचान न होने के कारण आत्मा के प्रति भक्ति–प्रेम जागृत नही होता था और अब, यथाथ पहिचान हो गई इससे उसके प्रति यथाथ भक्ति और प्रम जागृत हुआ है। अर्थात् यथार्थ पहिचान के बिना यथाथ भक्ति या प्रेम (महिमा, रुचि, आदर) नही हो सकता।

(११५) जिसके विकार का प्रेम है उसके स्वभाव का अनादर है

मैं चिदानन्द ज्ञातास्वरूप हूँ—ऐसा यदि नही

स्वभाव को भूलकर विकार का प्रेम किया, तो वह जीव तीर्थंकर भगवान की भक्ति के नाम से चाहे जैसे शुभभाव करे अथवा लाखों रुपये दान में खर्च कर दे, तथापि उससे आत्मा को कुछ भी धर्मलाभ नहीं होगा, किन्तु उल्टा वह राग से आत्मा को लाभ मानेगा इसलिये तीव्र अंतरायकर्म का बंध करके, मूढ होकर चौरासी के अवतार में उलझता फिरेगा। चाहे जैसे पुण्य-पाप करे और उनसे आत्मा को किंचित् भी लाभ माने उस जीव को आत्मा के स्वभाव का प्रेम नहीं है, किन्तु विकार का प्रेम है। पुण्यभाव से धर्म तो नहीं होता किन्तु उससे सात या आठ प्रकार के कर्म बँधते हैं और आत्मा की शुद्धि का घात होता है। चाहे जैसे शुभाशुभ विकारभाव करे तो भी उनके फल में चौरासी के ही अवतार हैं और आत्मस्वभाव की पहिचान वह चौरासी के अवतार का नाश करके सिद्धदशा की प्राप्ति का कारण है। स्वभाव में भव नहीं होते और विभाव में भव का अंत नहीं होता। किसी भी प्रकार के बंधभाव से आत्मा के गुणों की वृद्धि नहीं होती, किन्तु हानि ही है। जहाँ विकार का सत्कार है वहाँ निर्विकार स्वरूप का अनादर है।

(११६) पुरुषार्थ की स्वाधीनता

अपने स्वभाव का कार्य करने में वर्तमान पुरुषार्थ ही कार्यकारी है, स्वभाव के कार्य में कर्मों का कुछ भी नहीं चलता। और पर वस्तु के संयोग वियोग में आत्मा का पुरुषार्थ कुछ नहीं कर सकता, वहाँ तो पूर्व कर्मों के निमित्त से

उसकी योग्यतानुसार ही सयोग वियोग होते हैं। इसलिये पर से भिन्न अपने स्वभाव को जानकर उसमें स्थिरता के पुरुषार्थ से जीव—अपनी सम्पूर्ण शुद्ध मोक्षदशा प्रगट कर सकता है, उसके लिये उसे किसी कर्म के ऊपर देखना नहीं रहता।

(११७) जो तीर्थंकरों को सहायक मानता है वह तीर्थंकरों का अनादर करता है।

तीर्थंकर तो कहते हैं कि हे जीव ! तू अपनी शक्ति से स्वाधीन सम्पूर्ण स्वतन्त्र है हमारे आश्रय की तुझे आवश्यकता नहीं है, और हम तेरा कुछ नहीं कर सकते। इसप्रकार हमने तो तेरी स्वतन्त्रता की घोषणा की है, तथापि तू अपनी स्वाधीनता को न मानकर हमें अपना सहायक माने, अथवा हमारे ऊपर जो राग हो उससे लाभ माने, तो तू हमारे कथन का न मानने वाला—हमारा विरोधी है तूने हमें पहिचाना नहीं है और हमारे कथन को भी तूने नहीं माना है।

(११८) जीव के गुणों में 'चेतन' और 'जड़' —ऐसे दो प्रकार

आत्मा में अनन्त गुण हैं, उनमें ज्ञान के अतिरिक्त सुख इत्यादि अन्य गुण स्व पर को नहीं जानते; इस अपेक्षा से उन्हें जड़ कहा जा सकता है। किन्तु वे गुण भी जीव में अभेदरूप से होने के कारण वे जीव हैं—अजीव' नहीं हैं, और अजीव द्रव्य में विद्यमान नहीं हैं। कर्म शरीर इत्यादि पदार्थ तो जानते नहीं हैं और वे जीव के स्वभाव में भी नहीं हैं इसलिये वे तो जड़—अजीव हैं, विकारीभाव भी कुछ नहीं जानते और वे

जीव के स्वभाव मे नही हैं, इसलिये उन्हे भी जड और अजीव कहा जाता है। किन्तु ज्ञान के अतिरिक्त सुख इत्यादि अन्य गुण—यद्यपि वे जानने का काय नही करते तो भी—वे हैं तो जीव के स्वभाव में ही इसलिये उन गुणों को कथचित् जड कहा जा सकता है किन्तु वे अजीव द्रव्य या उसके गुण नही हैं। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य गुणो को जड कहने से ऐसा नही समझना चाहिये कि वे जीव से बाहर हैं अथवा रूपी है, यहाँ तो उन्हे इतनी ही अपेक्षा से जड कहा है कि उनमें ज्ञातृत्व नहीं है, वे है तो अरूपी और जीव के स्वभाव मे ही विद्यमान है। इसमें जीव के अनेकान्तस्वभाव का बतलाया है।

(११६) आत्मा की भावना या आत्मा का ध्यान कब हो सकते हैं?

स्वभाव का परिणमन स्वभाव की भावना के आधीन है, किन्तु स्वभाव की भावना कब कर सकता है? प्रथम तो जैसा स्वभाव है वैसा जाने तो उसकी महिमा लाकर भावना करे। किन्तु बिना जाने किसकी भावना करेगा? जैसे कोई कहे कि भैसे का ध्यान करो अथवा अमेरिका देश का चितवन करो परन्तु जिसने कभी भैसे को देखा ही न हो तथा अमेरिका देश का कुछ ज्ञान ही न किया हो वह जीव उसका ध्यान या चिंतवन किस प्रकार करेगा? वैसे ही जिसने आत्मस्वभाव को सत्समागम से जाना ही नहीं है वह आत्मा का ध्यान या उसकी भावना कैसे कर सकेगा? प्रथम जिज्ञासु होकर सत्समागम करके अपने पूर्ण स्वभाव को जाने तो पश्चात् पुरुषार्थ

के द्वारा उस पूर्ण स्वभाव की भावना करके पर्याय में ही कार्य लाना चाहे तो ला सकता है, किन्तु जबतक स्वभाव को और विकार को भिन्न भिन्न स्वरूप में न जाना हो तबतक स्वभाव के बदले विकार में ही तन्मय होकर उसकी भावना करता है, और जब प्रज्ञाछैनी (सम्यग्ज्ञान अर्थात् भेदज्ञान) द्वारा विकार का और स्वभाव को भिन्न भिन्न स्वरूप से जान ले तब जीव स्वभाव की ही भावना करता है किन्तु विकार की भावना कभी नहीं करता। और जैसी भावना वैसा परिणमन–इस न्याय से उस जीव के स्वभाव की भावना होने से प्रतिक्षण शुद्धता की वृद्धि होती रहती है और विकार की भावना न होने के कारण विकार प्रतिक्षण दूर होता जाता है।

(१७०) केवलज्ञान क्यों रुका है ?

पंचमकाल या भरतक्षेत्र तेरे केवलज्ञान को रोकते नहीं हैं, और चौथा काल या महाविदेह क्षेत्र तुझे केवलज्ञान देने में समर्थ नहीं हैं। तेरे पुरुषार्थ की हीनता से ही तेरा केवलज्ञान रुका है और तेरा पूर्ण पुरुषार्थ ही तुझे केवलज्ञान देने में समर्थ है। केवलज्ञान किसी संयोग में से प्रगट नहीं होता किन्तु तेरे स्वरूप में से ही प्रगट होता है और तेरा स्वरूप त्रिकाल तेरे पास परिपूर्ण है, इसस पूर्ण स्वरूप की भावना का पूर्ण पुरुषार्थ प्रगट करके चाहे जिस संयोग में तू केवलज्ञान प्रगट कर सकता है। वर्तमान में तेरी भावना और पुरुषार्थ की अपूर्णता के कारण ही तेरा केवलज्ञान रुका है, न कि संयोगों के कारण ? इसलिये संयोगों का लक्ष्य छोड़कर अपने स्वभाव की भावना और पुरुषार्थ की वृद्धि कर।

(१२१) सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान

जीव के ज्ञान का विकास तो है, किन्तु उस ज्ञान को प्रयोजनभूत तत्त्व मे लगाने के बदले अप्रयोजनभूत तत्त्व मे लगाता है। सर्प को सर्परूप से जाने तथा डोरी को डोरीरूप से जाने, अथवा स्वर्ग नरकादि का ज्ञान करे तो उससे कही सम्यग्ज्ञान नही कहलाता। यदि अपने प्रयोजनभूत आत्मस्वभाव को न जाने तो उस जीव का सभी ज्ञान मिथ्या ही है, वह जीव डोरी को डोरीरूप से जाने तथापि उसका वह ज्ञान मिथ्या ही है। जो ज्ञान मोक्ष के कारणभूत न हो वह मिथ्या है और जो मोक्ष के कारणभूत हो वह सम्यक है। सम्यक्दृष्टि जीवो को स्व पर का भेदज्ञान होता है, वे कदाचित डोरी को सर्परूप से जान ले तो उस समय भी उनका ज्ञान सम्यक्ज्ञान ही है। अप्रयोजनभूत पदार्थों का विपरीत ज्ञान भी स्वतत्त्व की पहिचान को हानि नही पहुँचाता। जिस जीव ने प्रयोजनभूत स्वतत्त्व को जाना है उसके राग के समय भी सम्यग्ज्ञान है। अवगुण हो तथापि ज्ञानी ऐसा जानते हैं कि यह अवगुण है, यह मेरा स्वरूप नही है। इसप्रकार, अवगुण के समय भी ज्ञानी के गुणस्वभाव मे विपरीत मतोनी न होने से—स्व पर का भेदज्ञान प्रवर्तमान होने से—उसका सब ज्ञान सम्यक है। अज्ञानी को पुण्य का विकल्प आये तब ऐसा जानता है कि 'यह जो पुण्यभाव है वह मेरा स्वभाव है, अर्थात यह पुण्यभाव और आत्मा एकमेवरूप है, और इस पुण्यभाव से आत्मा को लाभ होगा—कल्याण होगा,' इस प्रकार उसके भेदज्ञान न रहने से उसका सब ज्ञान मिथ्या है। यथार्थ ज्ञान का प्रयोजन स्वरूप का लाभ होना है। यथार्थ ज्ञान

का जो कार्य होना चाहिये वह मिथ्यादृष्टि जीव में दिखाई नहीं देता, इसलिये कार्य के अभाव में कारण का भी अभाव है।

(१२२) मिथ्याज्ञान का कारण क्या है ? और उसमें निमित्त कौन है ? ज्ञानावरणीय या मोहनीय ?

प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का यथार्थ जानना सो सम्यक्‌ज्ञान है और उन्हें यथार्थ न जानना सो मिथ्याज्ञान है। मोहभाव के कारण जीव के मिथ्याभाव होता है, किन्तु सम्यक्‌भाव नहीं होता अथवा अपने ज्ञान का स्वभावोन्मुख न करके परोन्मुख करता है—इसी से जीव के ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा जाता है। जैसे—विष के संयोग से भोजन को भी विषरूप कहा जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के सम्बन्ध से ज्ञान को भी मिथ्याज्ञान कहा जाता है। यदि मात्र ज्ञानगुण को भिन्न करके—मिथ्यादर्शन की अपेक्षा लिये बिना कहा जाये तो ज्ञान में मात्र हीनरूप परिणमन होता है, वह ज्ञान अपने को जानने की ओर उन्मुख नहीं होता, इसलिये उसे कुज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान भी कहा जाता है।

अप्रयोजनभूत तत्त्वों को जानने न जानने में ज्ञानावरण कर्म का निमित्त है, और प्रयोजनभूत तत्त्वों को जानने की शक्ति ही पर्याय में न हो, तो वहाँ उन असंज्ञी जीवों को ज्ञानावरण और दर्शनमोह—दोनों का निमित्त है, और संज्ञी जीवों के प्रयोजनभूत तत्त्वों को जानने की शक्ति (क्षयोपशम) तो पर्याय में लब्धरूप से हो, परन्तु जीव प्रयोजनभूत तत्त्वों को न जाने

तो उनके मिथ्यात्व का उदय निमित्तरूप समझना चाहिये। इससे मिथ्याज्ञान में ज्ञानावरण निमित्तरूप नहीं है, किन्तु मिथ्यात्व मोहजनित भाव ही उसमें निमित्तरूप है।

ज्ञान, मिथ्याज्ञान, अथवा सम्यग्ज्ञान कहने में ज्ञानावरण कारणभूत नहीं है, क्योंकि ज्ञानावरण का उदय तो मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि–दोनों को होता है इसलिये यदि ज्ञानावरण के उदय को मिथ्याज्ञान का निमित्तकारण माना जाये तो उन दोनों को मिथ्याज्ञान मानना पडेगा। किन्तु ज्ञानावरण का उदय होने पर भी सम्यग्दृष्टि के मिथ्याज्ञान नहीं होता इसलिये ज्ञानावरण का उदय उस मिथ्याज्ञान का निमित्तकारण नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानावरण का क्षयोपशम सम्यग्ज्ञान का कारण नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों को ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर भी मिथ्यादृष्टि के सम्यग्ज्ञान नहीं होता। इसलिये यहाँ पर ऐसा जानना चाहिये कि अप्रयोजनभूत सर्प इत्यादि का ज्ञान न होने में तो ज्ञानावरण कर्म निमित्तकारण है किन्तु प्रयोजनभूत तत्त्वों को न जानने में तो मिथ्यात्वकर्म निमित्तरूप है।

संज्ञी जीवों के प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों को जानने की और अप्रयोजनभूत अन्य पदार्थों को यथार्थ जानने की शक्ति जितना क्षयोपशम होता है, तथापि वे प्रयोजनभूत स्वतत्त्व को जानने में न रुककर अन्य अप्रयोजनभूत पदार्थों को जानने में ही रुकें, तो उसमें ज्ञान का दोष ही उपादानकारण-रूप है। यदि प्रयोजनभूत स्वतत्त्व को जानें तो उनका ज्ञान

सम्यग्ज्ञान हो जावे, किन्तु प्रयोजनभूत स्वतत्त्व को न जानने से ही उसका नाम मिथ्याज्ञान है।

प्रयोजनभूत तत्त्वों को न जानने में ज्ञानावरणीय का निमित्त नहीं है किन्तु मोह का निमित्त है। जानने की शक्ति तो ज्ञान में है, इसमें ज्ञानावरण का उदय निमित्तकारण नहीं है, परन्तु जानने की शक्ति होने पर भी उसके द्वारा प्रयोजनभूत तत्त्वों को जानने का लक्ष्य नहीं करता, किन्तु अप्रयोजनभूत को जानने का ही लक्ष्य करता है, वहाँ ज्ञानसामर्थ्य होने पर भी विपरीत मान्यता (प्रयोजनभूत स्वतत्त्व की अरुचि) के कारण अप्रयोजनभूत के जानने में ही रुकता है। इसप्रकार प्रयोजनभूत को न जाने-उसमें मोहनीय का निमित्तकारण है। यहाँ पर वास्तव में तो ज्ञानदशा स्वयं स्वभावोन्मुख होकर एकाकार नहीं हुई, इसी से उसे मिथ्याज्ञान कहा गया है अर्थात् उसमें उपादानकारणरूप तो वह ज्ञानदशा स्वयं ही है। उस समय की उस ज्ञानदशा की अशुद्धता की योग्यता के कारण वह मिथ्याज्ञान हुआ है, और मोहनीय कर्म अथवा विपरीत श्रद्धा उसका निमित्तकारण है। एक गुण के कारण दूसरे गुण में दोष होता है, ऐसा कहना तो व्यवहार है अर्थात् निमित्त से कथन है, वास्तव में तो प्रत्येक गुण की स्वतंत्र योग्यतानुसार उसकी पर्याय होती है।

(१२३) बमबारी, और उससे बचने का उपाय

अज्ञानी जीव इस बात को रुचिपूर्वक और तत्परता से जानना चाहता है कि जगत में कहाँ बम गिरा, और किस देश

की कौन सी इमारत नष्ट हुई, किन्तु अनन्त गुणरूपी महलो से परिपूर्ण अपने आत्मप्रदेश मे प्रतिक्षण विपरीत मान्यता रूपी भयकर बम स्वय फेंक रहा है और आत्मा की अनन्त शक्ति का घात कर रहा है, उसे देखने की सावधानी नही रखता और उस बमबारी से बचने का प्रयत्न नही करता। हे जीव ! बाह्य में जो बम गिरते हैं उनसे तेरे आत्मा को कुछ भी हानि नही है, किन्तु तेरे आत्मा मे विपरीत मान्यतारूपी बमो से तेरी ज्ञानशक्ति का हनन होता है—उसी की तुझे हानि है, उससे बचने के लिये तू सच्ची श्रद्धा का प्रयत्न कर। अपनी अतरग गुफा का आश्रय ले तो उसमे तुझे कोई बम नही लग सकेगा। जगत मे जड के ऊपर बमबारी होती है, उससे बचने का प्रयत्न (भाव) तो करता है, परन्तु अपने आत्मा की यथार्थ पहिचान के अभाव से गुणस्वरूप के ऊपर बम पड रहे हैं और प्रतिक्षण गुणो की शक्ति कम होती जा रही है, उसकी सँभाल तो कर। बाह्य बमो से बचने का तेरा प्रयास निष्फल है, यदि उनसे बच भी गया तो उससे तेरे आत्मा को किंचित् लाभ नही है। अतर में विपरीत मान्यतारूपी बमो से बचना ही सच्चा आत्मकल्याण है।

जगत के अधिकाश जीवो को आत्मकल्याण की चिंता ही नही है। मात्र देहदृष्टि ही होने से बाह्य के बमो से और प्रतिकूलता से बचने का प्रयत्न करते हैं और उसके लिये भटकते फिरते हैं, परन्तु अतर मे सम्यग्दर्शन के अभाव से मिथ्यात्व की बमबारी हो रही है और उसके कारण अनन्तकाल से

अनंत भव से अपार दुःख भोग रहा है, तथा उस मिथ्यात्व के कारण भविष्य में भी अनन्त दुःख भोगना पड़ेंगे, उनसे बचने के लिये तो विरले ही जीव सत्समागम से प्रयत्न करते हैं। "मैं आत्मा कौन हूँ मेरा क्या होगा, मेरा सुख कैसे प्रगट होगा, अनन्तानन्त काल से दुःखी होकर परिभ्रमण कर रहा हूँ, उससे पार होने का क्या उपाय होगा'—ऐसी तीव्र आकांक्षा जागृत होकर जबतक अपनी चिंता न हो तबतक जीव के परलक्ष्य से जितना ज्ञान का विकास हो वह अप्रयोजनभूत पदार्थों को जानने में ही रुका रहता है, किन्तु प्रयोजनभूत आत्मस्वभाव को जानने का प्रयत्न—अभ्यास नहीं करता और इससे उसे अज्ञान और दुःख बने ही रहते हैं। इसलिये सर्व प्रथम, अप्रयोजनभूत पर द्रव्यों को जानने की रुचि छोड़कर अपने परम आत्मतत्त्व का जानने की रुचि करना चाहिये, यही कल्याण का मार्ग है।

(१२४) अनेकान्त वस्तुस्वभाव

वस्तु ही अनेकान्तस्वभाव वाली है, और अनेकान्तस्वभाव वाली वस्तु सम्यग्ज्ञान के बिना जानी जाये—ऐसा नहीं है, इसलिये तू अपने ज्ञान को आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख करके सम्यक् बना। यदि तू अनेकान्त में कुछ खींचातानी करेगा तो तेरा मस्तक टूट जायेगा, अर्थात् वस्तु का स्वरूप तो जैसा है वैसा ही है, वह कहीं परिवर्तित होने वाला नहीं है, किन्तु एकान्त पक्ष से तेरे ज्ञान में मिथ्यात्व होगा। यह कोई साधारण बात नहीं है, किन्तु यह तो वस्तु के स्वभाव को सिद्ध

वाला वीतरागविज्ञान ही है। इसलिये अपना आग्रह छोड़कर वस्तुस्वभाव के निकट मतमस्तक हो जा, स्थिर हो जा। जहाँ स्वय वस्तु ही अपने स्वरूप को घोषित कर रही है वहाँ किसी का आग्रह नही चल सकता।

तीन लोक के पदार्थों का जसा त्रिकालस्वरूप है वैसा ही सवज्ञदेव अपने वीतरागी केवलज्ञान द्वारा एक समय में जानते हैं, और जसा जानते हैं उसी प्रकार दिव्यवाणी द्वारा कहा जाता है, उसमें अपनी कल्पना से तू यदि कुछ भी खींचातानी करेगा तो एक भी सत्य याय तेरी समझ में नही आयेगा, उलटी तेरे अज्ञान की पुष्टि होगी। अनादि स जीव अनेकान्तमार्ग को ही नही समझा है, अनेकान्त के नाम से एकान्त मा यताओं का ही सेवन किया है। निश्चय से ऐसा है और व्यवहार से वैसा है—इसप्रकार शास्त्र की बात करके ऐसा मान बठता है कि हम भी अनेका त के ज्ञाता हैं, कि तु मात्र शास्त्र का ज्ञातृत्व अनेकान्तमार्ग नही है पर तु राग, भग-भेद इत्यादि सब व्यवहारपक्ष का निषेध करके परमार्थ आत्म स्वभाव की ओर उ मुख होकर वहाँ जो ज्ञान अभेद होता है वही अनेकान्त है, और वही प्रमाण है। शास्त्रज्ञान से निश्चय और व्यवहार की बात तो जाने कि तु यदि व्यवहार का निषेध करके निश्चयस्वभाव म परिणमित न हो तो सम्यग्ज्ञान नही होगा और अनादि का जो एकान्त पक्ष है वह दूर नही होगा।

(१२५) ज्ञाताभाव

केवलज्ञान म छहों द्रव्य ज्ञात होते हैं, कि तु ज्ञान कहीं

उन द्रव्योंरूप नहीं हो जाता, ज्ञान तो सदैव उनसे भिन्न ही रहता है। जैसे—कूड़ा-कचरा इत्यादि गंदी वस्तुओं को जानने से आँख कहीं मैली नहीं हो जाती, अथवा अग्नि को जानने से आँख जल नहीं जाती, उसी प्रकार पर पदार्थों को जानने से ज्ञान कहीं उन पदार्थों रूप नहीं हो जाता, ज्ञान तो ज्ञानरूप ही रहता है। जो ऐसा समझते हैं वे पर ज्ञायकभाव का भेद ज्ञान करके अपने ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होते हैं, किन्तु जिन्हें ऐसा भेदज्ञान नहीं है वे जीव ज्ञाताभाव को भूलकर पर-पदार्थों में एकत्वबुद्धि करते हैं, और उन्हें इष्ट-अनिष्ट मानते हैं इससे उनके अपने स्वभाव में प्रवृत्तिरूप सम्यक्चारित्र नहीं होता किन्तु पर-पदार्थों को जानने से 'इसमें सुख है'-ऐसी मिथ्या बुद्धिपूर्वक परद्रव्य में राग-द्वेष प्रवर्तमान है-उसका नाम मिथ्याचारित्र है।

(१२६) सभी जीवों को चारित्र का अंश प्रगट है

श्री पंडित बनारसीदासजी ने उपादान निमित्त की चिट्ठी में व्याख्या में कहा है कि जीव की सब अवस्थाओं में (निगोद में भी) विशुद्धरूप चारित्र होता है, यहाँ कषाय की मंदता को विशुद्धरूप चारित्र कहा है। वह चारित्र की गर्भित शुद्धता है, किन्तु जबतक भेदज्ञान न हो तबतक वह मोक्षमार्गरूप नहीं है। भेदज्ञान होने से चारित्र की शुद्धता का अंश प्रगट होता है और वह मोक्षमार्गरूप होता है।

यदि निगोद में भी चारित्र का अंश न हो,-अर्थात् यदि वहाँ चारित्र की विशुद्धि का सर्वथा अभाव ही हो तो उस

स्वभाव ही है, पर की महिमा नही है, सवज्ञ की वाणी की महिमा नहीं है, कि तु वास्तव म आत्मस्वभाव की ही महिमा है। सवज्ञ की वाणी म भी जो ग्रात्मस्वभाव है उसीका वणन किया है, नवीन कुछ भी नहीं कहा।

हे जीव! जनदशन महाभाग्य से प्राप्त किया है, अब तू अपनी अ तर ऋद्धि सिद्धि का भडार तो देख! सवज्ञ की दिव्य वाणी के अतिरिक्त अ य कोई जिसे सम्पूण कहने में समथ नहीं है, और सवज्ञ के शासन में सम्यग्ज्ञानियो के अतिरिक्त कोई भी जिसे यथाथरूप स समझने में समथ नही है—ऐसा तेरा अ तरस्वभाव है। कितु कभी अपने स्वभाव का महिमाको नही जाना इसलिये इधर उधर के परपदार्थों की महिमा करके रुक जाता है। अहो! आ मा की महिमा अपरम्पार है और उसे जानने वाले ज्ञान का सामथ्य भी अपार है। सवज्ञ की वाणी में और जनशासन में जितना भी वणन है वह आत्मस्वभाव का समझने के लिय ही है। इस वणन को पर का नही समझना, कि तु ऐसा समझना चाहिये कि अपने ज्ञान स्वभावसामथ्य का ही वह वणन है। जहाँ छह द्रव्य अथवा नवतत्त्वो का वणन आये वहाँ तुझे ऐसा समझना चाहिये कि उन सबको जानने की मेरे ज्ञानस्वभाव की जो शक्ति है, उसी का यह वणन है। इसप्रकार अपने स्वभाव की महिमा लाकर श्रद्धा करके उसी में स्थिर होना जनदशन का प्रयोजन है अनन्त शास्त्र और दिव्यध्वनियो का सार यही है कि अप चैतन्यस्वरूप आनन्दमय आत्मा को पहिचानकर उस स्थिर हो!

(१३०) 'सर्व गुणांश सो सम्यक्त्व' का क्या अर्थ ?

सम्यग्दर्शन होने से आत्मा के समस्त गुण निर्मलतारूप परिणमन करने लगते हैं, सम्यग्दर्शन की व्याख्या 'सर्व गुणांश सो सम्यक्त्व'–ऐसी भी की जाती है। इस व्याख्या में गुणभेद को गौण करके, समस्त गुणों की अभेद विवक्षा की मुख्यता से कथन किया है। समस्त गुणों की निर्मलता का अंश सो सम्यक्त्व कहा है, समस्त गुण तो मलिन नहीं हैं, आत्मा के जो अनन्त गुण हैं वे सभी विकाररूप परिणमित नहीं होते, किन्तु कुछ ही विकाररूप परिणमित होते हैं और कितने ही गुणों का तो ऐसा स्वभाव है कि वे कभी भी विकाररूप परिणमित नहीं होते, किन्तु शुद्ध ही रहते हैं। अस्तित्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व इत्यादि गुण शुद्धरूप ही परिणमित होते हैं। इस प्रकार कितने ही गुण तो शुद्ध ही होने पर भी 'सर्व गुणांश सो सम्यक्त्व'–ऐसा कहा है उसका कारण यह है कि जो गुण शुद्धरूप ही परिणमन करते हैं उन गुणों के स्वभाव को भी अज्ञानी जीव नहीं पहिचानते क्योंकि यदि गुणों के स्वभाव को जाने तो गुणी आत्मा के स्वभाव को भी जानें। जब जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब उस सम्पूर्ण स्वभाव की प्रतीति होती है और इसलिये वह अभेदरूप से आत्मा के सर्व गुणों को जानता है, इसलिये उसके सभी गुण निर्मल परिणमित होते हैं ऐसा कहा है। भले ही कितने ही गुण तो पहले–अज्ञानदशा के समय भी शुद्ध परिणमन करते थे, किन्तु अज्ञानदशा में स्थित जीव को उसकी खबर नहीं थी और ज्ञानदशा होते ही

उसकी खबर हुई (प्रतीति हुई) इससे उस जीव के ज्ञान की अपेक्षा से तो समस्त गुणों की निर्मलता नवीन प्रगट हुई है ऐसा कहा जाता है, अथवा ऐसा भी कहा जाता है कि सम्पूर्ण आत्मा ही नवीन प्रगट हुआ है ।

(१३१) गुणों का स्वतंत्र परिणमन

यदि श्रद्धा, ज्ञानादि गुणभेद की अपेक्षा से कथन किया जाये तो प्रत्येक गुण भिन्न है, और उसका परिणमन भी भिन्न है, इसलिये प्रत्येक गुण स्वतंत्र परिणमित होता है किन्तु एक गुण के कारण दूसरा गुण परिणमित नहीं होता । सम्यग्दर्शन होने पर सम्यग्ज्ञान होता है, उसमें भी श्रद्धागुण के कारण ज्ञान का सम्यक् परिणमन नहीं हुआ है किन्तु समस्त गुण अपनी अपनी योग्यतानुसार ही परिणमित होते हैं । मिथ्याश्रद्धा के कारण ज्ञान या चारित्र मिथ्या हैं—ऐसा वास्तव में नहीं है, किन्तु ज्ञान ने स्व का लक्ष्य करने के बदले एकांत पर का लक्ष्य किया है इससे वह कुज्ञान है । उसी प्रकार चारित्रपर्याय भी स्वसमय में प्रवृत्ति करने के बदले परसमय में प्रवर्तमान है, उसी से वह कुचारित्र है । इसप्रकार गुणभेद से प्रत्येक गुण का परिणमन स्वतंत्र है ।

(१३२) अनादि मिथ्याज्ञान और सादि मिथ्याज्ञान के सम्बन्ध में

प्रश्न —किसी जीव को सम्यग्ज्ञान हो गया और पश्चात् अपने पुरुषार्थ के दोष के कारण सम्यग्ज्ञान से च्युत होकर

पुन अज्ञानी हुआ, तो उस समय उस जीव के ज्ञान को मिथ्याज्ञान नही कहना चाहिये, क्योंकि एकबार तो उसे सम्यग्ज्ञान हो गया है इसलिये उसका ज्ञान अनादि अज्ञानी के मिथ्या ज्ञान जैसा नही हो जाता, किन्तु कुछ अ तर पडता है ?

उत्तर —एकबार सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् च्युत होकर जो अज्ञानी हुआ है उसका ज्ञान तो मिथ्या ही है। और उस जीव की अपेक्षा से तो उसके पहले के मिथ्याज्ञान में और इस समय के मिथ्याज्ञान म अन्तर नहीं है, क्योंकि वर्तमान में तो उसे कुछ भी भान नही है कि पूर्व में मेरे ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रवर्तमान था। अब, केवली भगवान के ज्ञान की अपेक्षा स देखें तो—उस जीव की अनादि की मिथ्याज्ञानदशा को, तत्पश्चात् सम्यग्ज्ञानदशा को और वर्तमान मिथ्याज्ञानदशा को —इन तीनों दशाओं को केवली भगवान जानते हैं और यह भी जानते हैं कि—भविष्य में अमुक समय वह जीव, उस अज्ञानदशा को दूर करके अवश्य ही सम्यग्ज्ञानदशा रूप परिणमित होने वाला है, अर्थात् अनादि का जो मिथ्याज्ञान था और वर्तमान में जो मिथ्याज्ञान है उनमें किसी प्रकार से अन्तर है—इसप्रकार केवली भगवान जानते हैं। उस जीव का ज्ञान जैसा पूर्व मे था, वैसा ही सब प्रकार स नही है, कुछ अन्तर पड गया है, और वैसा ही केवली भगवान जानते हैं, किन्तु उस जीव को स्वयं उसकी खबर नहीं है। यदि वह जीव स्वयं उस अन्तर को पकड सकता हो तो उसके मिथ्याज्ञान न रहे, किन्तु सम्यग्ज्ञान ही हो जाये।

यद्यपि केवली भगवान की अपेक्षा से उस जीव के पूर्व

के मिथ्याज्ञान मे और वतमान मिथ्याज्ञान म कुछ अ तर होना कहा है, परन्तु उसस एसा नही समझना चाहिये कि जो वतमान नान है वह मिथ्यानान नही है। जिसप्रकार पूव का ज्ञान मिथ्याज्ञान था वसे ही वतमान नान भी मिथ्यानान ही है। केवली भगवान भी ऐसा ही जानते हैं कि वतमान में इस जीव के मिथ्याज्ञान है।

(१३३) जैनदर्शन के शास्त्रों का भाव समझने के लिये लक्ष्य में रखने योग्य नियम

(१) जैनदशन अनेकान्तस्वरूप है। वह प्रत्येक वस्तु को अनेक स्वरूप बतलाता है। प्रत्येक तत्त्व अपने स्वरूप मे अस्ति रूप और पर के स्वरूप से नास्तिरूप है। यह अनेकान्त ही वस्तु के स्वरूप को समझने का उपाय है। इसीसे जनदशन की महत्ता है।

(२) प्रत्येक तत्त्व स्वतंत्र है, स्वय अपने से अस्तिरूप है और पर से नास्तिरूप है। जिसमे जिसकी नास्ति हो उसमें वह कुछ भी नही कर सकता, इसलिये कोई भी तत्त्व किसी अ य तत्त्व का कुछ भी करने म कभी समथ नही है।

(३) समस्त द्रव्य एक दूसरे से भिन्न होने से उनके गुण और पर्याय भी त्रिकाल भिन्न भिन्न ही हैं और प्रत्येक द्रव्य के गुण पर्याय स्वय अपने द्रव्य के ही आधार से हैं किसी भी द्रव्य के गुण पर्याय कभी भी किसी अ य द्रव्य के आधार से नहीं हैं।

(४) जीव स्वयं अनंत पर पदार्थों से भिन्न है, इसलिये कोई पर पदार्थ जीव को लाभ हानि नहीं कर सकते, जीव का पुरुषार्थ स्वतंत्र है। जगत के सब द्रव्य स्व से अस्तिरूप और पर से नास्तिरूप—इसप्रकार अनेकान्तस्वरूप हैं, इसी अनेकान्त द्वारा वस्तुस्वरूप की स्वतंत्रता और पूर्णता है। ऐसा भेदज्ञान कराके जैनदर्शन आत्मस्वभाव के साथ एकता कराता है और पर के साथ जो सम्बन्ध है उसे छुड़ाता है।

(५) जैनदर्शन के शास्त्र का कोई भी कथन हो उसका मूल प्रयोजन वीतरागभाव ही है। उस प्रयोजन को अखण्ड रखकर ही जैनशास्त्रों का अर्थ समझना चाहिये।

उपरोक्तानुसार पाँच नियम बराबर लक्ष्य में रखकर यदि सत्शास्त्रों का अर्थ समझा जाय तभी उनका सच्चा रहस्य समझ में आता है। कोई भी शास्त्र हो, उसमें चाहे निश्चयनय का कथन हो या व्यवहारनय का किन्तु उसका सच्चा भावार्थ समझने के लिये उपरोक्त नियम लक्ष्य में रखकर उनका अर्थ करना चाहिये।

यदि अस्ति नास्तिरूप अनेकान्त के मर्म को समझकर सत्शास्त्रों का अर्थ करे तो शास्त्ररूपी समुद्र का पार पा जाये—शास्त्र के चाहे जैसे कथन में भी वह आकुलित न हो। और यदि अनेकान्त के यथार्थ मर्म को न जाने तथा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ करता है,—इत्यादि प्रकार से पक्ष रखकर शास्त्र पढ़े तो वह शास्त्र के अनेक विवक्षाओं के कथन को नहीं सुलझा सकेगा, उसी शास्त्र के कथन को लेकर वहीं आकुलित

हो जायेगा अर्थात् उसका ज्ञान मिथ्या रहेगा, वह शास्त्र में कहे हुए ज्ञानियों के आशय को नहीं समझ सकेगा।

(१३४) सम्यक्चारित्र

आत्मा का स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है। ज्ञाता-दृष्टापने में राग द्वेष नहीं होना, अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव और राग-द्वेष भिन्न हैं, इसप्रकार भेदज्ञान करके, किसी पर द्रव्य में इष्ट अनिष्ट बुद्धि न करना किंतु राग द्वेषरहित ज्ञाता दृष्टा रहना उसका नाम सम्यक्चारित्र है। अथवा ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को राग से भिन्न जानकर उसमें सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति और राग से निवृत्ति सो सम्यक्चारित्र है। वह आत्मा का ही वीतरागभाव है और वह सुखरूप है। मेरा स्वभाव सुखरूप है, किसी भी संयोगी पदार्थ या संयोगी भाव में मेरा सुख नहीं है, मैं *असंयोगी स्वयंसिद्ध ज्ञाता दृष्टा वस्तु हूँ आत्मा* हूँ, और मुझमें ही मेरा सुख है,—इसप्रकार जो स्वरूप को नहीं जानता उस जीव के स्वभाव में प्रवृत्ति नहीं होती किंतु परभाव में ही उसकी प्रवृत्ति होती है। स्वभाव में प्रवृत्ति सो सम्यक्चारित्र है और परभाव में प्रवृत्ति सो मिथ्याचारित्र है। राग के द्वारा जीव को समाधान और शांति नहीं होती किंतु स्वरूप एकाग्रता करने से ही वीतरागभाव और सर्व समाधान-शांति सहज होते है। सर्व समाधानस्वरूप मोक्ष है।

(१३५) पदार्थों का परिणमन स्वतंत्र है

जीव का स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा है, किंतु स्वयं स्वभाव को भूलकर ज्ञाता-दृष्टा नहीं रहता, पर द्रव्यों को जानने

स स्वय को उनका कर्ता मानकर उनमें परिवर्तन करना चाहता है, और व्यर्थ राग-द्वेष भाव करके व्याकुल होता है क्योंकि इस जीव के करने से पर द्रव्यों में कुछ भी फेरफार नहीं होता। समस्त द्रव्य स्वय अपने स्वभावरूप परिणमित होते हैं, कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता है ही नहीं।

किसी समय जीव जैसी इच्छा करता है उसी प्रकार पदार्थों में परिणमन होता है तो भी वहाँ उन पदार्थों का परिणमन जीव के करने से नही हुआ है किन्तु स्वय उनके स्वभाव से हुआ है। तथापि जिस प्रकार चलती हुई गाडी को धकेल कर बालक ऐसा मानते हैं कि हम इस गाडी को चला रहे हैं अथवा गाडी के नीचे चलने वाला कुत्ता ऐसा मानता है कि मैं इस गाडी के भार को उठा रहा हूँ—उसी प्रकार यह जीव भी पर-पदार्थों को जानने से ऐसा मानता है कि मैं इन पदार्थों का परिणमन करता हूँ यह मान्यता असत्य है। यदि गाडी उनके (बालकों या कुत्ते के) चलाने से चलती है तो जब वह नही चल रही हो तब वे उसे क्यों नही चला सकते? इसलिये जब वह चलती है उस समय भी उनसे नहीं चलती किन्तु स्वय से चलती है। उसीप्रकार प्रत्येक पदार्थ प्रति समय परिणमन कर ही रहा है। किसी किसी समय अपनी इच्छानुसार उसका परिणमन देखकर अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि इस परिणमित द्रव्य को मैं परिणमित करता हूँ किन्तु परिणमित होने वाला पदार्थ स्वय अपने स्वभाव से ही परिणमन करता है ऐसा नहीं मानता। यदि तेरे परिणमित करने से पदार्थ परिणमित होता हो तो जब वह पदार्थ तेरी इच्छानुसार ी

करता हो उस समय तू क्या उसे परिणमित नही करता ? इसलिये ऐसा समझ कि वह पदार्थ निरन्तर अपने सामर्थ्य से ही परिणमित होता है—मुझसे नही। कदाचित् योगानुयोग इच्छानुसार परिणमन बन जाय तो भी वे पदार्थ उनके कारण से वैसे परिणमित हुए हैं। यदि कोई भी पदार्थ अपने परिणमित करने से परिणमित नही होता तो फिर कषाय करने से क्या होगा ? मात्र स्वयं दुःखी होता है। इसप्रकार जो समझ ले उसके कषाय करने का अभिप्राय दूर हो जाता है।

(१३६) कोई भी पर पदार्थ इष्ट अनिष्ट नहीं है

पुनश्च, किन्ही भी पदार्थों में तो इष्ट अनिष्टपना है ही नहीं क्योंकि यदि पदार्थ ही स्वयं इष्ट या अनिष्ट हो तो जो पदार्थ इष्ट हो वह सबको इष्टरूप लगे और अनिष्ट हो वह सभी को अनिष्टरूप प्रतीत हो, किन्तु ऐसा तो है ही नहीं। मात्र यह जीव स्वयं ही राग द्वेष द्वारा उनमें इष्टता अनिष्टता की कल्पना करता है, वह कल्पना मिथ्या है। जीव का स्वभाव तो मात्र ज्ञान करने का है, किन्तु पदार्थों की इष्ट अनिष्ट कल्पना करना जीव का स्वभाव नही है।

(१३७) जो आत्मप्रतीति नहीं करते और बहाना बनाते हैं वे वेदिया—मूर्ख हैं, प्रतीति के लिये सदैव मांगलिक काल ही है।

आत्मतत्त्व की प्रतीति वर्तमान में ही करना योग्य है, ऐसे पवित्र कार्य में क्षणमात्र की अवधि बढाना योग्य नहीं है। जिन्हें आत्मा का प्रयोजन नही है ऐसे मूर्ख अज्ञानी जीव

ऐसा मानते हैं कि इस समय अमुक बाह्यकार्य कर लेने दो, अथवा इस समय पुण्य कर लेने के बाद भविष्य में यथार्थ प्रतीति करेंगे, व वर्तमान में ही आत्मप्रतीति का अनादर कर रहे हैं। अरे भाई! अनन्तानन्तकाल से संसार समुद्र में गोते खा रहा है और इस समय सत्समागम से आत्मस्वभाव समझकर संसार समुद्र से पार होने का अवसर आया है इस समय समझने से जी चुराना मूर्खता है। आत्मस्वभाव शुद्ध परिपूर्ण है ऐसा ज्ञानी बतलाते हैं वह तो समझता नहीं है, और शास्त्र में क्या कहा है, वह देख लूं ऐसा जो मानता है उसे *शास्त्र का अभ्यास हो गया है वह बदिया ज्योतिष'* की भाँति मूर्ख है।

बदिया ज्योतिष का दृष्टान्त—एकबार एक कुएँ में कोई स्त्री गिर पड़ी। वहाँ बहुत से ज्योतिषी लोग आकर इकट्ठे हो गये और स्त्री को कुएँ से निकालने का विचार करने लगे। एक व्यक्ति बोला कि इस समय उस स्त्री को कुए में से निकालने के लिये मुहूर्त अच्छा है या नहीं यह देख लो। दूसरे ने *कहा—हाँ यह बात ठीक है पहले यह निश्चित् कर लो* कि स्त्री का नाम कौन सी राशि में है। और फिर एक दो व्यक्ति तो गाँव में से ज्योतिष का पोथा लेने दौड़े। कोई तो अपने रटे हुए श्लोकों में से कौन लागू पड़ता है उसे याद करने लगे, किसी ने स्त्री से उसकी हालत पूछना प्रारम्भ किया कि तुम्हारा नाम क्या है? कितने बजे कुएँ में गिरी? इत्यादि। किन्तु स्त्री बोली अरे भाई! पहले मुझे *बाहर तो निकाल लो, मैं मर जाऊँगी। तब बेदिया ज्योतिष*

पण्डित कहने लगे–धीरज रख, अपने ज्योतिषशास्त्र का नियम तो पहले मिला लेने दे, अभी अच्छा चौघडिया देखकर तुझे निकालते हैं। उसी समय वहाँ पर कोई बुद्धिमान मनुष्य आ पहुँचा और ज्योतिषियों से बोला अरे मूर्खों! क्या यह समय भी ज्योतिष देखने का है? ऐसा कहकर अपने सिर पर बंधी हुई पगडी को उकेल कर कुएँ में डाला और प्रयत्न करके स्त्री को बाहर निकाल लिया। उसीप्रकार आत्मस्वभाव को समझने के अवसर पर अज्ञानी कहते हैं कि अभी काल कौन सा है? इस काल मे मुक्ति है या नही? कर्म कैसा है? शास्त्र मे क्या क्या कहा है?—इसप्रकार सभी पराश्रय को ढूँढते हैं। किन्तु ज्ञानी उनसे कहते हैं कि अरे भाई! यह सुअवसर–सुकाल गँवाने का नहीं है। तुझे काल से क्या काम है? तू जिस समय समझ ले उसी समय तुझे मांगलिक काल ही है। तेरी मुक्ति तेरे आत्मस्वभाव मे से प्रगट होती है इसलिये उसका निर्णय कर। और कर्म कैसे हैं–यह देखने का तुझे प्रयोजन है, या यह समझना है कि तेरा चैतन्य स्वभाव कैसा है? शास्त्रों मे अनेक अपेक्षाओं से कथन होता है, उसमे स्वच्छन्दता से तेरा कहीं भी मेल नही बैठेगा, किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि हजारों लाखों शास्त्रो के कथन मे एक चैतन्यस्वरूप आत्मा की ही प्रतीति का तात्पर्य है। शास्त्ररूपी समुद्र के मंथन से एक चैतन्यरत्न ही प्राप्त करना है। इसलिये हे भाई! ऐसे अवसर पर तू उलटे सीधे दुर्विकल्पों में न रुककर सत्पुरुषों के कथनानुसार अपने स्वभाव को समझ। यदि तू अपने स्वभाव को पहिचाने तो तेरा उद्धार हो सकता

है, अन्य किसी भी जानकारी से तरे आत्मा का उद्धार नहीं है।

यहाँ पर ऐसा नहीं समझना चाहिये कि शास्त्राभ्यास का निषेध किया है, शास्त्राभ्यास का निषेध नहीं है किन्तु उसका प्रयोजन आत्मस्वभाव का समझने का है। यदि आत्मस्वभाव को न समझे तो शास्त्रज्ञान जीव को मात्र मन का भार-रूप है।

(१३८) सच्ची विद्या

इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त आता है—एकबार एक मनुष्य नाव में बैठकर उस पार जा रहा था। उसने नाविक से पूछा—नाविक भाई! तुझे ज्योतिष विद्या आती है? नाविक ने उत्तर दिया—नहीं। फिर पूछा—कविता बनाना आता है? नाविक ने कहा—नहीं। इसप्रकार अनेक प्रश्न किये, तब अन्त में नाविक बोला भाई मुझे यह सब कुछ नहीं आता, मैं तो नाव चलाना और पानी में तरना—यह दो कलाएँ जानता हूँ। तब वह मनुष्य अपनी बुद्धिमानी बतलाकर कहने लगा—मुझे तो यह सब आता है, तूने कुछ नहीं सीखा! अपने सभी वर्ष पानी में ही खो दिये। इसबार नाविक कुछ न बोला। कुछ ही आगे बढ़े कि नाव में एकाएक पानी भर गया और वह डूबने लगी। तब नाविक ने उस मनुष्य से पूछा—भाई! यह नौका तो डूबने वाली है, तुम्हें ज्योतिष आदि विद्याएँ आती हैं यह तो मैंने जान लिया, किन्तु यह कोई बुद्धिमानी यहाँ काम आनेवाली नहीं है, तुम्हें तरना आता है या नहीं?

उस मनुष्य को तरना नही आता था, इसलिये हाय हाय करने लगा, रोने चिल्लाने लगा। तब नाविक ने कहा–वहो अब किसके वप पानी मे जायेंगे ? मैं तो तरकर किनारे पहुँच जाऊँगा, किन्तु तुम्हें तरना नही आना इसलिय तुम और तुम्हारी सभी विद्याएँ पानी मे ही जाए गी।

उसीप्रकार अज्ञानी जीव सम्यग्दर्शनरूपी तरने की कला नही जानत और ज्ञानी उस कला को बराबर जानते हैं। अज्ञानी कहते है कि हमें तो कमप्रकृति का बराबर ज्ञान है और आध्यात्मिक शास्त्रो के श्लोक तो हमारी जीभ पर ही रखे रहते हैं, तथा व्रत–तपादि भी बहुत करते हैं। किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि भाई! तुमने यह सब भल जान लिया, किन्तु आत्मानुभव को जाना है या नही ? इसके बिना तुम्हारी किसी भी कला स ससार का अन्त नही आयगा यह कोई भी कलाएँ तुम्हें आत्मशान्ति देन म समथ नही है। अल्प काल म ही जीवन पूर्ण होने स ससार समुद्र म डूब जाओगे और तुम्हारी सभी जानकारी अस्त हो जायेगी। ज्ञानी भले ही कमप्रकृति आदि को बहुत न जानते हो, स्मरणशक्ति भी अधिक न हो और व्रत तप भी उनके नही हो, किन्तु आत्मा नुभव की मूलभूत कला वे बराबर जानते हैं, उनके जीवन पूर्ण होने के समय आत्मानुभव की शान्ति बढ जाती है और उसी सत्विद्या के द्वारा वे अल्पकाल मे ससार समुद्र स पार हो जाते हैं। इसलिये वही सच्ची विद्या है।

इससे ऐसा समझना चाहिये कि मूल प्रयोजनभूत आत्म-तत्त्व का ज्ञान प्रथम करना चाहिये। आत्मस्वभाव के ज्ञानपूर्वक

यदि विशेष शास्त्राभ्यास और स्मरणशक्ति हो तो वह उत्तम है। आत्मज्ञान सहित विशेष शास्त्राभ्यास का निषेध कहीं पर नहीं है, किन्तु कदाचित् किसी जीव का उसप्रकार का विशेष ज्ञान न हो तो भी, उस यदि आत्मा को ज्ञान हो तो उसका आत्मकल्याण नहीं रुकता। और यदि आत्मस्वभाव की पहिचान न करे तो उस जीव का हजारों शास्त्रों का अभ्यास भी व्यर्थ है—आत्मकल्याण का कारण नहीं है। जीव यदि मात्र शास्त्रज्ञान करने में ही लगा रहे, परन्तु शास्त्र की ओर से विकल्प से पर—ऐसा जो चैतन्य का स्वभाव है, उस ओर उन्मुख न हो तो उसके धर्म नहीं होता सम्यग्ज्ञान नहीं होता। अज्ञानी जीव ग्यारह अंग पढ़ ले किन्तु उससे उसे किंचित् आत्मलाभ नहीं है। इसलिये ज्ञानीजन यही कहते हैं कि सर्वप्रथम सम्यक् पुरुषार्थ के द्वारा आत्मस्वरूप को जानो, उसी की प्रतीति–रुचि–श्रद्धा और महिमा करो। समस्त तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि का और सभी सत्शास्त्रों के कथन का सार यही है।

(१३६) आत्मा के साथ क्या रहता है? आत्मा का क्या है?

प्रश्न—आत्मा के साथ क्या रहता है?

उत्तर—आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसलिये ज्ञान ही उसके साथ रहता है। राग आत्मा का स्वरूप नहीं है इसलिये वह सदैव आत्मा के साथ नहीं रहता, किन्तु पहले क्षण का राग दूसरे ही क्षण छूट जाता है। एक ही प्रकार का राग आत्मा के साथ

५० वर्ष तक नही रह सकता किन्तु ज्ञान नित्य रह सकता है। इसलिये राग आत्मा का स्वरूप नही किन्तु ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है, इससे ज्ञान ही आत्मा के साथ रहता है। ऐसा होने मे ज्ञान और राग भिन्न सिद्ध हुए। अब यदि ऐसा जानकर ज्ञान अपने स्वभाव में एकाग्र हो तो वह सदा आत्मा के साथ ही रहता है,-एक गति से दूसरी गति मे जाने पर भी वह ज्ञान दूर नही होता, किन्तु यदि राग के साथ ज्ञान का एकत्व माना हो तो, जैसे राग नाशवान है वैसे ही वह एकत्वबुद्धिवाला ज्ञान भी नाश को प्राप्त होता है। यदि आत्मानुभव द्वारा स्वभाव की ओर का ज्ञान करके सम्यग्ज्ञान किया हो तो वह ज्ञान आत्मा के साथ अभेद होने से निरंतर आत्मा के साथ ही रहता है, क्योंकि वह ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। और जो ज्ञान आत्मस्वभाव को न जाने, मात्र पर को जानने में लगा रहे तथा चैतन्य स्वभाव के साथ अभेदत्व न करके राग मे एकता करे, वह ज्ञान आत्मा के साथ नही रहता, क्योंकि स्वभाव को भूलकर पर को जानना वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसलिये वह ज्ञान आत्मा के साथ सदैव स्थिर नही रहता, किन्तु अल्पकाल में ही नष्ट हो जाता है, अर्थात् परलक्ष्य से किया हुआ ज्ञान का विकास अल्पकाल में ही अस्त हो जाता है।

यदि यथार्थ रीति से स्वभाव को जाने तो सम्यग्ज्ञान हो, वह ज्ञान आत्मा साथ ले जाता है, और यदि स्वभाव को विपरीत प्रकार से माने तो स्वसम्बन्धी विपरीतज्ञान (मिथ्या ज्ञान) हो, वह साथ में ले जाता है, अर्थात ज्ञानी के परि-

ऐसा सदा ज्ञानमय और अज्ञानी के परिणाम सदा अज्ञानमय उत्पन्न होते हैं। आत्मा का अपने ज्ञान के साथ सम्बन्ध है, किन्तु पर-वस्तुओं के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं है, वे तो आत्मा से भिन्न ही हैं। पर वस्तुएँ कभी भी आत्मा के साथ नहीं जातीं और न आत्मा उन्हें ले जा सकता है। वर्तमान में भी आत्मा शरीरादि अन्य द्रव्यों में एकत्रित (एकमेक) नहीं है किन्तु उनसे पृथक् ही है। जिसकी दृष्टि चैतन्य तत्व पर नहीं है किन्तु जड़ शरीर के ऊपर है, उसे अपनी विपरीत दृष्टि के कारण एकमेकता प्रतीत होती है किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

(१४०) ज्ञानी की दृष्टि में और अज्ञानी की दृष्टि में

ज्ञानी कहते हैं कि चैतन्यतत्त्व और जड़ तत्त्व सदा भिन्न ही हैं; चैतन्य आत्मा और जड़ शरीर के एकत्व को हम कभी भी अनुभव नहीं करते जानते नहीं हैं। अज्ञानी और निगोददशा में स्थित आत्मा भी शरीरादि से भिन्न स्वभाववाले चैतन्य स्वरूपी हैं—ऐसा ही हमारे जानने में आता है। अज्ञानीजन कहते हैं कि—चैतन्य आत्मा और जड़ शरीर कभी भी भिन्न हमारे अनुभव में आते ही नहीं हैं,—हमें तो चैतन्य और जड़ का एकत्व ही प्रतिभासित होता है। अज्ञानी की इस विपरीत मान्यता का शल्य ही उसे चैतन्यस्वभाव का अनुभव करने से रोकता है।

चैतन्य और जड़ सदा भिन्न ही हैं, तथापि अज्ञानी

प्रतीति का ही अभ्यास करना चाहिये—वही सुखी होने का मार्ग है।

जब से असत् को असत्रूप से जान लिया तभी से असत्य अभिप्राय को छोड़ देना चाहिये। प्रथम विष खाकर उसकी परीक्षा करें, जब वह शरीर में फल जायेगा तब उसे दूर करने का उपाय करेंगे–ऐसा नही होता, किन्तु यह विष है—ऐसा जानने के पश्चात् वह खाया ही नही जाता। इसी प्रकार विपरीत मान्यता तो विष से भी बुरी है। पहले विपरीत समझ लें, फिर सत्य समझेंगे–ऐसा कभी नही होता। असत् को समझने समझते सत् की प्रतीति नही होती किन्तु असत् की ओर की उन्मुखता छोड़े तो सत् समझ में आता है। असत् को असत् जाना–उसी समय असत् को छोड़कर सत् को समझ लूँ, असत्य का सर्वथा त्याग–कर दूँ–ऐसा सत् का ही आदर होता है। इसप्रकार जो सत्य हो वह पहले से ही समझना होता है, और वह नियम तो सभी आत्माओं के लिये एक सा ही होता है। इसलिये प्रथम सत् असत् का विवेक करना चाहिये।

मुमुक्षु जीवों को यह विशेष ध्यान रखना चाहिये कि–जिन्होंने सत् का अनुभव किया हो ऐसे 'सत्' पुरुषों के निकट ही सत् का उपदेश मिल सकता है, किन्तु जिन्होंने 'सत्' का अनुभवन ही नही किया–ऐसे अज्ञानियों के पास से कभी सत् उपदेश की प्राप्ति नही होती। इसलिये-सत्-असत के विवेक में सद्गुरु-और असद्गुरु का विवेक-भी-आ जाता है।

(१४३) जिज्ञासु को प्रेरणा

जीव अनादिकाल से मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्ररूप परिणमन कर रहा है, और उसी परिणमन द्वारा संसार में अनेक प्रकार के दुःखों के निमित्त कारणरूप कर्मों का बंध होता है, इसलिये यह मिथ्यादर्शनादिक भाव ही दुःख का मूल है, अन्य कोई नहीं। अनादिकाल से मैं अपना स्वरूप भूलकर पर के कर्तृत्व की मान्यता में रुका रहा हूँ, किन्तु अब सत्समागम प्राप्त करके मैं अपना हित कर लूँ, आत्मा क्या है और आत्मा का क्या है—यह विवेक कर लूँ संसार के पदार्थों का जो होना हो वह हो, उनके काम से मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं है, मुझे तो अपने आत्मकल्याण का उपाय करना है—इसप्रकार हे भव्य जीव! तू अपने आत्मा में जिज्ञासा कर! यदि तू दुःखों से मुक्त होने की इच्छा रखता है, तो जिस प्रकार श्रीगुरु स्व पर का भिन्न भिन्न स्वरूप समझते हैं, उसीप्रकार जानकर सम्यग्दर्शनादि के द्वारा मिथ्यादर्शनादिक विभावों का अभाव करना—यही कार्य है, इस कार्य के करने से तेरा परम कल्याण होगा।

★

स्वयं कर सकता है, इसप्रकार हम मान्यता का प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। यह मान्यता तो यथार्थ है, परन्तु वहाँ अभी अच्छे का ग्रहण करने का और बुरे को त्याग देने का विकल्प प्रवर्तमान है, इसलिये यहाँ राग द्वेष का अंश विद्यमान है, अर्थात् वहाँ चारित्र का दोष है, किन्तु मान्यता का दोष नहीं है। यह साधक दशा है। जीव अपना यथार्थ स्वरूप समझे और यह जान ले कि अपने में ग्रहण करने योग्य क्या है और त्याग करने योग्य क्या है तो अपने दोष का त्याग कर सकता है। इस मान्यता में इष्ट अनिष्ट का यथार्थ ज्ञान तो हुआ है, किन्तु अभी इष्ट का सर्वथा ग्रहण और अनिष्ट का सर्वथा त्याग नहीं हुआ है।

४ इष्ट-अनिष्ट के विकल्पों को भी छोड़कर स्वरूप में पूर्ण लीन होना सो साध्यदशा

'मेरा स्वभाव इष्ट और विकारी अवस्था अनिष्ट'—इस भेद के विकल्प भी छोड़कर, परम उपादेय ज्ञायकस्वभाव में स्थिर हो जाये और वहीं लीनता द्वारा राग का क्षय करके वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट करे—वहाँ दृष्टि और चारित्र दोनों पूर्ण हैं। प्रथम (तीसरे भंग के अनुसार) इष्ट-अनिष्ट का यथार्थ स्वरूप जाना था, उस स्वरूप से साक्षात् परिणमन ही हो गया, यह उत्तम है। उस दशा में ग्रहण करने योग्य सब का ग्रहण और त्याग करने योग्य सर्व का त्याग हो गया है।

इष्ट-अनिष्ट का अर्थात् ग्रहण-त्याग का स्वरूप समझने के लिये उपरोक्त चारों भंग अवश्य मनन करने योग्य हैं।

(१४४) धर्मी जीव के धर्म का सम्बन्ध किसके साथ है? और धर्मात्मा का कर्तव्य क्या है?

आयु के साथ धर्म का सम्बन्ध नहीं है, किन्तु धर्म तो आत्मस्वभाव के श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र से है। धर्मात्मा जीव आयु को बढ़ाने या स्थिर रखने की भावना नहीं करते, किन्तु अपने सम्यग्दर्शनादि भावों को अखण्डरूप से स्थायी रखना ही धर्मात्मा जीवों का कर्तव्य है और उन्हीं की पूर्णता की वे भावना करते हैं। आयु को शरीर को या स्त्री पुत्रादि को बनाये रखना यह धर्मी जीवों का कर्तव्य नहीं है, वे तो सब परवस्तु हैं, कोई भी जीव उन्हें स्थिर रख ही नहीं सकता। किन्तु जो पुण्यपरिणाम होते हैं उन्हें स्थिर रखना भी धर्मात्मा जीव का कर्तव्य नहीं है। धर्मात्मा जीव पुण्य भाव को बढ़ाने की भावना नहीं करते किन्तु स्वभावभाव की वृद्धि की भावना करते हैं। अधर्मी जीव विकार को और पर को बढ़ाना चाहते हैं। धर्मात्मा जीव के धर्म का सम्बन्ध किसी परद्रव्य के साथ या पुण्य के साथ नहीं है किन्तु अपने आत्मा के साथ ही धर्म का सम्बन्ध है। जिसके साथ धर्म का सम्बन्ध है उसे तो जानता नहीं, तो फिर जीव को धर्म कहाँ से हो?

पुण्य पाप और उनके फल—इन सबके साथ धर्म का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है उन सबमें धर्म का अभाव है और धर्म में उन सबका अभाव है। आत्मा के स्वभाव के -ज्ञान-चारित्ररूप जो भाव है उसमें धर्म

पुण्यादि का अभाव है। इसप्रकार धर्म का सम्बन्ध धर्मात्मा (आत्मस्वभाव) के साथ है, अर्थात् धर्म आत्मा की ही शुद्ध-दशा है।

श्री समन्तभद्र स्वामी देवागम स्तोत्र में कहते हैं कि—हे जिनेन्द्र ! हम इन समवशरणादि विभूतियों द्वारा आपकी महत्ता नहीं मानते यह तो पुण्य का—विकार का फल है। ऐसे विकार के फल द्वारा हम आत्मा की महत्ता नहीं मानते किन्तु केवलज्ञानादि अनन्तगुणों द्वारा ही आत्मा की महत्ता को जानते हैं। ऐसा स्वभाव और विभाव के बीच का विवेक धर्मात्मा जीवों के होता है।

(१४५) मृत्यु का भय किसके दूर होता है ?

मरण का भय कब दूर हो ? आयु के अभाव को लोग मरण कहते हैं। आयु पुद्गल परमाणुओं की अवस्था है। पुद्गल की अवस्था एक ही समयपर्यंत की है, उसकी अवस्था का उत्पाद पहले आयुरूप था, पश्चात् अन्य अवस्था में उसका परिणमन होगया, और वह आयुरूप परिणमित न होकर अन्य-रूप परिणमित होगया, और उसी समय शरीर के परमाणुओं का परिणमन भी बदल गया, तथा आत्मा की व्यञ्जनपर्याय की उस क्षेत्र में रहने की योग्यता पूर्ण होकर वह अन्य क्षेत्र में चली गई, इसप्रकार कर्म, शरीर और आत्मा—इन तीनों की अवस्था का स्वतन्त्र परिणमन प्रतिसमय हो रहा है। किन्तु उन तीनों में से कोई (कर्म, शरीर या आत्मा की व्यञ्जन पर्याय) जीव को दुःख का कारण नहीं है, दुःख का कारण

सो अपना अज्ञानभाव ही है। जिन्हें कर्म और शरीर से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव का भान है, वे तो उसके ज्ञाता ही रहते हैं, वे शरीरादि के वियोग से आत्मा का मरण या दुःख नहीं मानते किन्तु संयोग से भिन्नरूप अपने त्रैकालिक चैतन्यस्वभाव का सदा अनुभवन करते हैं। किन्तु जिन्हें कर्म और शरीर से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव का अनुभव नहीं है वसे अज्ञानी जीव शरीरादि के वियोग से आत्मा का मरण और दुःख मानकर आकुलता और राग द्वेष द्वारा दुःखी होते हैं। इसप्रकार वे जीव अज्ञानभाव द्वारा अपने चैतन्यस्वभाव का घात करते हैं वही मरण है—हिंसा है। इसलिये जो शुद्ध चैतन्यस्वभाव को जानते हैं उन्हीं के मृत्यु का भय दूर होता है।

(१४६) जीव की धारणा के अनुसार ही क्या दुःख कम हो सकता है? और उसका दुःख कब दूर होता है?

संसारी जीव ऐसा चाहते हैं कि पर वस्तु में अपनी धारणानुसार कार्य हो, किन्तु उनकी इच्छानुसार कार्य पर वस्तु में नहीं होते। इससे वे आकुल-व्याकुल होकर दुःखी होते हैं। यदि आकुलता व्याकुलता दूर हो तो दुःख दूर हो। किन्तु यह कब दूर हो? जबतक पर वस्तु को परिवर्तित करने की इच्छा है तबतक तो आकुलता व्याकुलता दूर हो ही नहीं सकती। किन्तु मैं पर वस्तु से भिन्न हूँ, पर के कार्य मेरे आधीन नहीं है, मैं तो सहज ज्ञानरूपी साम्राज्य द्वारा सब का ज्ञाता हूँ, ऐसा मान करके और इच्छाओं

यदि ज्ञानस्वरूप म स्थिर हो तो उस जीव की धारणानुसार (नान अनुसार) ही सब कुछ हो अर्थात् जबतक जीव में पर में कुछ भी करने की इच्छा है तबतक, उसका ज्ञान अपूर्ण है। किन्तु जब जीव इच्छा को नोडकर केवलज्ञान प्रगट करे तब, जसा उसके ज्ञान म ज्ञात हो वसा ही पदार्थों का परिणमन होता है, इसलिये कहा है कि–जबतक इच्छा है तबतक धारणा के अनुसार (ज्ञान अनुसार) काय होते ही नहीं, और जहाँ इच्छा नही है वहाँ धारणानुसार ही (ज्ञान के अनुसार ही) काय स्वयमेव पदार्थों की स्वतत्रता से होते हैं। इच्छा-वाले जीव की इच्छानुसार काय न होवे से वह आकुल व्याकुल ही रहता है, इसलिये इच्छा ही दु ख है। जहाँ इच्छा नही है वहाँ ज्ञान म जान अनुसार ही पदार्थों का परिणमन होता है वहाँ आकुलता नही रहती, निराकुल ज्ञातृत्व है, ऐसी निराकुलता सो सुख है अर्थात् ज्ञान ही सुख है। जितने जितने अशो म सम्यग्ज्ञान आत्मा मे एकाग्र होता है उतने ही अशो में निराकुलता की वृद्धि होती जाती है।

(१४७) ज्ञान का अकर्ता स्वभाव

ज्ञान पर पदार्थों म क्या करेगा ? उसका स्वभाव तो जानने का है, किन्तु पर मे कुछ करने का उसका स्वभाव नहीं है, और वास्तव मे तो ज्ञान के समय भी जो राग होता है वह राग करने का भी ज्ञान का स्वभाव नही है। जसे–आँख मेरु पवत को जानती अवश्य है, किन्तु क्या आँख मेरु पवत को ऊँचा कर सकती है ? वसे ही ज्ञान तो सभी को जानने

के स्वभाववाला है, वह सब को जानता अवश्य है परन्तु उनमें कुछ भी फेरफार नहीं करता। वास्तव में तो ज्ञानस्वभाव राग का कर्ता नहीं है किन्तु उसका ज्ञाता ही है। इस प्रकार ज्ञान पर का अकर्ता है–ऐसा समझने से ज्ञान ज्ञान में लीन रहता है, ज्ञान ज्ञानरूप ही होता है किन्तु विकाररूप नहीं होता। इसप्रकार ज्ञान ही धर्म है और ज्ञान ही संसार के नाश का उपाय है।

(१४८) ज्ञान साम्राज्य

नियमसार शास्त्र में ऐसा कहा है कि—ज्ञान ही तीन लोक का साम्राज्य है। लोक में जो राजा होता है वह अपने राज्य को मात्र जानता ही है किन्तु अज्ञान के द्वारा इच्छा करके वह दुःखी होता है और उसके ज्ञान के अनुसार तो पदार्थ परिणमित नहीं होते, जिसकी आज्ञानुसार कार्य न हो और जिसमें दुःख हो उसे साम्राज्य कैसे कहा जाये? साम्राज्य तो केवली भगवान के पास है क्योंकि उनके केवलज्ञान की आज्ञा में ही समस्त पदार्थ परिणमित होते हैं, केवलज्ञान की मर्यादा का उल्लंघन करके रंचमात्र भी नहीं होता और भगवान इच्छारहित होने से सम्पूर्ण अनाकुल सुख का ही अनुभव करते हैं, इसलिये केवलज्ञान ही जगत का यथार्थ साम्राज्य है।

(१४९) सर्व शास्त्रों का प्रयोजन

सब शास्त्रों का प्रयोजन यही है कि–चैतन्यस्वरूप आनन्दमय आत्मा को पहिचानकर उसमें लीन हो। शास्त्र का एक

ही वाक्य सत्पुरुषों के पास से सुनकर यदि इतना समझ ले तभी उसका प्रयोजन सिद्ध है, और लाखों करोड़ों शास्त्र सुनकर भी यही समझना है। यदि यह न समझे तो उस जीव ने शास्त्रों के एक शब्द को भी यथार्थरूप से नहीं जाना है।

जिससे आकुलता दूर होकर अनाकुलता हो—ऐसा आत्म स्वभाव ही मूल प्रयोजनभूत है। सत् का श्रवण करे, शास्त्र-स्वाध्याय करे, नवतत्त्वों को जाने देव गुरु शास्त्र की श्रद्धा भक्ति करे —इत्यादि सबकुछ बराबर करने पर भी यदि अपने निराकुल आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख नहीं हुआ और उसका अनुभव नहीं किया तो जीव का वह सब करना निष्फल है, उससे जीव के प्रयोजन की सिद्धि नहीं है। और जिस जीव को शास्त्र पढ़ना भी न आता हो नवतत्त्वों के नाम नहीं जानता हो, तथापि यदि सत्पुरुष के निकट से श्रवण करके चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव कर लिया है तो उसके सब प्रयोजन की सिद्धि है।

(१५०) कल्याण का उपाय कषाय की मन्दता नहीं किन्तु अकषायस्वभाव की पहिचान है।

सर्वथा कषायरहित अकषायस्वभाव को समझकर कषाय का अभाव करना प्रयोजनभूत है, किंतु अकषायस्वभाव को समझे बिना पर के लक्ष्य से कषाय मन्द करे तो वह प्रयोजनभूत नहीं है। कषाय का अभाव कब होता है ?—मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरे स्वरूप में कषाय नहीं है,—इसप्रकार अकषाय स्वरूप की प्रतीति के बल से ही कषाय का अभाव हो सकता

है। अकषाय चैतन्यस्वरूप की प्रतीति का बल प्रगट हुए बिना परलक्ष्य से मात्र कषाय की मंदता कर सकता है, किन्तु कषाय का अभाव तो नहीं हो सकता। परलक्ष्य से जो कषाय की मन्दता हो उससे आत्मकल्याण की सिद्धि नहीं है, और वह कषाय की मन्दता सदैव स्थिर भी नहीं रह सकेगी, अल्पकाल में ही वह बदलकर तीव्र कषाय हो जायेगी। और आत्मा के लक्ष्य से जो कषायें दूर हुई वे सदा के लिये दूर हो जाती हैं, तथा शेष कषायें भी क्रमशः दूर होकर अकषायी वीतरागदशा प्रगट होती है, इसलिये सर्वप्रथम आत्मा के अकषाय चैतन्यस्वरूप की पहिचान करना ही कल्याण का उपाय है।

(१५१) युक्ति

नय और प्रमाणज्ञान को युक्ति कहते हैं।

जो युक्ति आत्मस्वभाव को सिद्ध करे वही युक्ति है। प्रथम, वस्तु है-ऐसा निश्चित् करना चाहे तो उसे युक्ति द्वारा सिद्ध कर सकता है। जो स्वभाव हो उसे सिद्ध करना सो युक्ति है किन्तु जो स्वभाव को ही न समझना चाहे उसे युक्ति यथार्थ नहीं बढेगी।

(१५२) आदरणीय क्या है ?

प्रश्न —नवतत्त्वों में से कौन-कौन से तत्त्व आदरणीय हैं ?

उत्तर —ज्ञान में वे सभी तत्त्व जानने योग्य हैं। सद्भूत व्यवहारनय से संवर निर्जरा मोक्ष और जीव आदरणीय हैं, परन्तु शुद्धनिश्चय से तो नवतत्त्वों के भेदों का विचार

मात्र शुद्ध जीवतत्त्व ही आदरणीय है। सम्यक्‌श्रद्धा मोक्ष पर्याय जितना ही आत्मा को स्वीकार नहीं करती, किन्तु चैतन्य नायकस्वरूप से एकरूप स्वीकार करती है, इसलिये श्रद्धा में तो नवों तत्त्वों का विकल्प छोड़कर एकरूप ज्ञायक आत्मा का अनुभव ही आदरणीय है। नवतत्त्व के विकल्पों द्वारा आत्मा को मानना भी सम्यक्त्व नहीं है। नवतत्त्वों का ज्ञान सो व्यवहार सम्यक्त्व है और उन नवतत्त्वों का लक्ष्य (विचार) छोड़कर एकरूप आत्मा की प्रतीति में लेना सो यथार्थ सम्यग्दर्शन है। नवतत्त्वों का विचार करने से भेद के कारण राग उत्पन्न होता है और राग की एकत्वबुद्धि दूर नहीं होती, इसलिये श्रद्धा में तो नवतत्त्व आदरणीय नहीं हैं, किन्तु नवतत्त्वों के भेद से परे मात्र ज्ञायक अभेद आत्मा ही आदरणीय है, क्योंकि अभेद के लक्ष्य से राग के साथ की एकत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व दूर होता है और राग दूर होकर वीतरागता होती है।

(१५३) विशेष तत्त्वों का ज्ञान प्रयोजनभूत है या नहीं?

प्रश्न —जैनदर्शन में जो आस्रव–बंध–मोक्षादि और सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र इत्यादि विशेष तत्त्व कहे हैं वे प्रयोजनभूत हैं या अप्रयोजनभूत हैं?

उत्तर —जैनदर्शन में कहे हुए विशेष तत्त्वों को जानने में वे प्रयोजनभूत हैं, क्योंकि वे विशेष तत्त्व वस्तु के सामान्य स्वरूप का अवलम्बन लेकर ही कहे गये हैं। सामान्य को सर्वथा छोड़कर मात्र विशेष का निरूपण नहीं है। विशेष

तत्त्वो का नान करके यदि सामा य स्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसकी प्रतीति कर तो उस जीव को विशेष तत्त्वों का नान प्रयोजनभूत कहलाता है। किन्तु यदि उन विशेष तत्त्वो के जानने में ही रुक जाये और सामान्य स्वभाव को प्रतीति मे न ले तो उस जीव को विशेष तत्त्वा का नान प्रयोजनभूत नही है। किन्तु कोई जीव विशेष तत्त्वा को बिलकुल जाने ही नही तो उस जीव का प्रयोजन सिद्ध नही होगा।

(१५४) आत्मा को क्या खपेगा और क्या नहीं, —उसकी खबर किस होती है?

अधिकाश व्यवहार के आग्रही जीव, अपने को आत्म स्वभाव की पहिचान होने मे पहले ही कहते हैं कि हमे तो जन क हाथ का ही खपगा अजन के हाथ का नही किन्तु भाइ! अभी तो आत्मस्वभाव की पहिचान होन स पहल तू स्वय ही अजैन है। पहले सम्यग्दशन द्वारा तू सच्चा जन ता हो जा फिर तुझे यथाथरूप से खबर होगी कि तेरे आत्मा को क्या खपगा और क्या नही?

ज्ञानियो का अभिप्राय तो ऐसा है कि हमे अपना वीतरागी स्वभाव और वीतरागता ही खपेगी राग का अशमात्र भी नही। एसे भानपूवक उनक अपनी भूमिकानुसार राग का और उसके निमित्तो का त्याग होता है। अज्ञानियो को राग रहित स्वभाव का तो भान नही और राग को आदरणीय मानते हैं उनकी मिथ्या मान्यता म उन्हे अनन्त राग और उसके निमित्तरूप अन त पदाथ खपत हैं–उसका तो वे त्याग

नहीं करते और बाह्य में यह वस्तु नहीं लपगी और यह लपेगी—ऐसा करने में ही रुक जाते हैं। परिणाम में तो मंद कषाय कदाचित् ही होती है। ऐसा मार्ग जैनदर्शन का नहीं है। अभी यही नहीं समझा कि मैं कौन हूँ और पर कौन है, तो फिर अज्ञानी को यह खबर कैसे पड़ेगी कि मुझे क्या लपेगा और क्या नहीं ?

(१५५) स्वाश्रय से मुक्ति और पराश्रय से बन्धन

आत्मस्वभाव स्वयं अपने से ही पूर्ण है, उसे किसी भी परवस्तु का किंचित् आश्रय नहीं है। किसी भी परद्रव्य का अनुसरण करके होनेवाला चाहे जो भाव हो वह बन्धन ही है, और स्वद्रव्य का अनुसरण करके होनेवाला भाव मुक्ति का कारण है। सिद्धांत ऐसा है कि—स्वद्रव्याश्रित मुक्ति और परद्रव्याश्रित बंधन। प्रथम, मैं स्वभाव से परिपूर्ण हूँ, पर पदार्थों का या विकल्प का अंश भी मुझे आश्रयभूत नहीं है,—ऐसा स्वाश्रयता का विश्वास करने पर मिथ्यात्वभाव से मुक्ति होकर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। ऐसी स्वाश्रयता की प्रतीति करने के पश्चात् भी अस्थिरता के कारण जितना भाव परद्रव्य के लक्ष्य से होता है वह भी बंध का ही कारण है। स्वाश्रय स्वभाव की श्रद्धा के पश्चात् उसी के आश्रय से स्थिरता करना ही मुक्ति का कारण है। 'मुझे पराश्रय चाहिये, देव-गुरु-शास्त्रादि के आश्रय से मुझे लाभ होता है' —ऐसी मान्यतापूर्वक का पराश्रय से होनेवाला भाव मिथ्यात्व

है। और मेरे आत्मा को किसी परद्रव्य से लाभ नहीं होता— ऐसी श्रद्धा होने पर भी पर के अवलंबन से जो रागादिभाव हो वे भी बंधन हैं, चारित्र को रोकनेवाले हैं। ज्ञानियों को भी अस्थिरता की भूमिका में पराश्रित भाव होते अवश्य हैं, किन्तु ज्ञानियों की श्रद्धा है कि यह भाव मुझे लाभ का कारण नहीं हैं यह भाव मेरा स्वभाव नहीं हैं मेरा स्वभाव तो इनसे रहित है—ऐसा भेदज्ञान के बल से स्वाश्रय में स्थिर होकर वे पराश्रितभाव का अभाव करते है।

(१५६) अनार्यता-मूढ़ता

जिनेन्द्रदेव के आगम में मांस को तो अस्पर्श्य गिना है, और चमड़े का स्पर्श किया हो तो उसके हाथ से मुनि आहार न करें—ऐसा उसका निषेध है। मांस को तो छूने में भी पाप है। तब फिर मृतक पशुओं का चमड़ा चीरना और उसमें सेवा मनाना—यह तो सीधा अनार्यता का लक्षण है। चमड़े का चीरना और मांस को नोचना, यह कार्य आर्य का नहीं है। आर्य मनुष्य ऐसे हलके और पापरूप कार्य नहीं करते। चमड़े को चीरना और उसमें देशसेवा मनाना अथवा धर्म मनाना—यह तो मूढ़ता ही है, उसमें बुद्धि का किंचित् विवेक नहीं है।

आत्मा का स्वभाव महा पवित्र है, उसमें परवस्तु तो नहीं है किंतु रागादि भी नहीं हैं, उसे भूलकर महाहिंसा के कारणरूप—ऐसे मांस-चमड़े को नोचने फाड़ने में स्वाश्रयता मानकर उसमें धर्म मनाना अथवा देशसेवा क

अपने आत्मा का महान अनादर है। तथा ऐसे जीवों को धर्मात्मा के रूप में मानकर उनकी पूजा करना भी अधम का और पाप का ही पोषण है।

इसी प्रकार सरल रीति से त्रसहिंसा के भाव करने योग्य मानना त्रसहिंसा के भावों को कर्तव्य मनाना—वह भी महान मूढ़ता है उसमें तीव्र हिंसा का महान पाप है।

(१५७) पर्याय का कारण कौन है?

आत्मा वस्तु है वस्तु में प्रतिक्षण अवस्था होती है। आत्मा की अवस्था तो प्रतिसमय होती ही रहती है किन्तु वह अवस्था कैसी होती है? अवस्था की रचना करनेवाला वीर्य (पुरुषार्थ) है, वीर्य को मार्ग दिखानेवाला ज्ञान है, ज्ञान का परिणमन दृष्टि (श्रद्धा) का अनुसरण करके होता है, और दृष्टि का आधार (विषय) सम्पूर्ण द्रव्य (वस्तु) है। इसप्रकार एक गुण को दूसरे गुण का कारण कहना सो व्यवहार से है, परमार्थ से देखो तो प्रत्येक गुण स्वतंत्र है और प्रत्येक गुण की अनन्त पर्यायें भी स्वतंत्र हैं, प्रत्येक समय की वह पर्याय स्वयं अपनी रचना करती हैं। उस-उस समय की पर्याय स्वयं स्वाश्रयोन्मुख हो तो शुद्ध होती है, पराश्रयोन्मुख हो तो अशुद्ध होती है, इसप्रकार स्वयं ही कारण कार्य है। तात्पर्य यह है कि परमार्थ से कारण कार्यता है ही नहीं, द्रव्य गुण और पर्याय सभी अकारणीय है। एक ही पदार्थ में भेद करके कारण कार्यपना कहना सो व्यवहार है। अभेदत्व की अपेक्षा से एक वस्तु में द्रव्य गुण-पर्याय भिन्न नहीं हैं किन्तु एक वस्तु ही है, इसलिये अभेद विवक्षा में कारण-कार्यपना ही नहीं है।

अब, द्रव्य गुण पर्याय के भेद की विवक्षा से देखने पर, पर्याय वह द्रव्य का ही परिणमन है और द्रव्य के आधार से ही पर्याय होती है इसलिये द्रव्य को कारण और पर्याय को कार्य कहना सो व्यवहार है। निश्चय से तो पर्याय स्वयं ही कारण और स्वयं ही कार्य है। पूर्व पर्याय का व्यय वह वर्तमान पर्याय का कारण है—ऐसा कहना सो भी व्यवहार है। परम शुद्धनय के विषय में कारण कार्य के अथवा द्रव्य-पर्याय के भेद का विकल्प भी नहीं है किन्तु द्रव्य गुण पर्याय से अभेद एकाकार द्रव्य ही है, पर्याय स्वयं द्रव्य के आश्रय से एकाकार परिणमित हो गई है।

(१५८) शरीर से भिन्न चैतन्यस्वरूप को जानकर उसी की शरण लें !

यह शरीर तो जड परमाणुओं का पिंड है, वे परमाणु आत्मा से भिन्न हैं, स्वतंत्र परिणमन करते हैं। एक क्षण में अन्यरूप परिणमित हो जायगे। आत्मा ज्ञानस्वरूप है चेतनायुक्त है, चेतनभगवान आत्मा को जड शरीर का आधार नहीं है, किन्तु अपने चैतन्यत्व का ही आधार है। चैतन्य को राग का भी आधार नहीं है। हे जीव ! तुझे अपना एक चैतन्य ही शरण है, शरीर अथवा राग कोई तुझे शरणभूत नहीं हैं, इसलिये शरीर से और राग से भिन्न—ऐसे अपने चैतन्यस्वरूप को पहिचानकर उसी की शरण ले।

जिसके साथ स्वप्न में भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसे इस मुर्दे के साथ सम्बन्ध मानकर तू अनादि से दुःखी हो

हे जीव ! अब उस मान्यता को छोड दे ! मैं तो चैतन्य हूँ, इस शरीर के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, पूर्व में भी इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं था, और न भविष्य में भी कोई सम्बन्ध होना है । चैतन्य और जड त्रिकाल भिन्न ही हैं। मैं पराश्रय से ही दुःखी हुआ हूँ इसलिये अब स्वाधीन चैतन्य को जानकर अपना हित कर लूं। भले ही सारे जगत का चाहे जो हो उसके साथ मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं जगत का साक्षीभूत जगत से भिन्न अपने में निश्चल एक रूप शाश्वत ज्ञाता हूँ, वास्तव में जगत का और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है मैं अपना ही ज्ञाता हूँ ।

(१५६) शरीर और चेतना का भिन्नत्व

आत्मा की चेतना अखण्ड है असंख्यप्रदेशी चेतना के कभी भाग नहीं होते । शरीर के दो टुकडे हो जायं किन्तु वहाँ भी चेतना के टुकडे नहीं होते क्योंकि ज्ञान तो ज्यों का त्यों ही रहता है । शरीरकी एक अंगुली कट तो वहाँ कहीं ज्ञान में से कुछ भाग नहीं कट जाता । क्योंकि चेतना तो अपने सर्व प्रदेश में अखण्ड एक अरूपी तथा असंयोगी है और शरीर तो संयोग मात्र, जड–रूपी पदार्थ है, दोनों बिल्कुल भिन्न हैं । शरीर के लाख टुकडे हो जायं तथापि चेतना तो अखण्ड ही है । चेतना और शरीर कभी भी एक हुए ही नहीं ।

शरीर के कटने से जीवों को दुःख होता है, वहाँ उनको शरीर का कटना दुःख का कारण नहीं है, किन्तु शरीर के साथ जो एकत्वबुद्धि है वही दुःख का कारण है, और यदि साधक

जीवों को अल्प दुःख हो तो वह उनके अपने पुरुषार्थ की अशक्ति से जो राग है—उसके कारण होता है। यदि शरीर का कटना दुःख का कारण हो तो उस समय आत्मा का स्वतंत्र परिणमन कहाँ रहा? शरीर कट रहा हो तथापि वीतरागी संतों को उस समय भी दुःख नहीं होता किन्तु स्वरूप में स्थिर होकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। इसलिये शरीर और आत्मा सदा भिन्न ही हैं।

(१६०) द्रव्य-गुण-पर्याय की अनादिता— उनका कर्ता कोई नहीं है

जो वस्तु अनादि होती है उसके गुण-पर्याय भी अनादि ही होते हैं, क्योंकि वस्तु हो और उसकी पर्याय न हो—ऐसा होता ही नहीं। सिद्धदशा, स्वर्ग नरक कर्म इत्यादि सभी अनादि से ही हैं। वस्तु अनादि है और वस्तु की पर्याय भी अनादि है, इसलिये इस जगत का कर्ता कोई ईश्वर है—यह बात मिथ्या है जो अनादि से स्वयंसिद्ध है ही, उसका निर्माण करना होता ही नहीं।

यदि ईश्वर कर्ता हो तो उसने नवीन क्या बनाया? कौन सी वस्तु नवीन तैयार की? या गुण-पर्याय नये बनाये? प्रथम तो जो वस्तु न हो वह नवीन बन ही नहीं सकती। वस्तु को कहाँ से नई बनायेगा? और जो वस्तु होती है वह अपने गुण पर्याय सहित ही होती है, इसलिये वस्तु के गुण पर्यायों का भी कोई कर्ता नहीं है। जैसे वस्तु अनादि है उसी प्रकार उसकी पर्यायें भी अनादि से होती ही रहती हैं

करे कि इस जगत की सबस पहलेपहली अवस्था कसी होगी ? तो उसका उत्तर यह है कि—जहाँ अनादिता है वहाँ ऐस तक को अवकाश ही नही है। वस्तु की प्रथम अवस्था क्या ? उसका समाधान यह है कि–जिसप्रकार वस्तु अनादि है उसीप्रकार उसकी अवस्था भी अनादि स ही है उसम 'यह प्रथम अवस्था' ऐसा कह तो उस अवस्था के पहल वस्तु ही नही थी एसा होता है। वस्तु को अनादिता कहना और उसकी पहली अवस्था कहना—इन दोनो का परस्पर विरोध है। पहली अवस्था कहे तो वस्तु का ही आदि हो जाय, इसलिये वस्तु और अवस्था दोनो अनादि स ही हैं, एसा ही स्वभाव है, उसम तक को स्थान नही है। स्वतत्र स्वभाव क विषय में भी जो प्रश्न और कुतक करते है वे जीव वस्तुस्वभाव को नही समझ सकगे, क्योकि उन्हे स्वभाव की बात नही जमती किन्तु कुतक ठीक लगता है।

(१६१) ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव

जगत और जगत क अनन्त पदार्थों की अनेक प्रकार की अवस्थाएँ अनादि हैं। यह ऐसा क्यो ? —ऐसी शका का विकल्प मत कर। शका करने का या राग-द्वेष करने का जीव का स्वभाव नही है। जगत की सब वस्तुओ मे ज्ञेयस्वभाव है अर्थात् वे सभी वस्तुएँ ज्ञान म ज्ञात हो–ऐसा उनका स्वभाव है और जीव का ज्ञानस्वभाव है, इसलिये वह सबको जानता है। इसप्रकार अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति द्वारा वस्तुओं के ज्ञेयस्वभाव को यथावत जान ले। अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति

ही सम्यग्दर्शन है। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करने के लिये नैयपदार्थों सम्बन्धी परिचय को भूल जा।

(१६२) ज्ञान की स्वतन्त्रता

पराधीन हुआ ज्ञान भी स्वयं परतन्त्र हुआ है, उसे किसी अन्य ने परतन्त्र नहीं बनाया, इसलिये वह स्वतन्त्ररूप से स्वाधीन हो सकता है। ज्ञान तो आत्मा का निजस्वरूप है और जो क्रोधादिक होते हैं वह विभाव है। राग-द्वेष क्रोधादि के कारण ज्ञान की प्रवृत्ति पराधीन हो रही है। ज्ञान स्वयं रागादि में रुका है, इसलिये ज्ञान की शक्ति हीन हो गई है, वह ज्ञान का ही अपराध है। यदि ज्ञान स्वयं राग में न रुककर स्व स्वभाव में लीन हो तो उसकी शक्ति का पूर्ण विकास होता है। ज्ञान का विकास किन्हीं रागादि भावों से नहीं होता किन्तु ज्ञान स्वभाव के अवलम्बन से ही होता है।

(१६३) जैनदर्शन का सार—भेदज्ञान और वीतरागता

जैनधर्म वस्तु के यथार्थ स्वरूप का, निरूपण करता है। सत को सत्‌रूप से और असत को असत्‌रूप से स्थापना करता है, किन्तु सबको समान नहीं कहता। वीतरागतारूप भावों को भला कहकर उनकी स्थापना करता है और राग द्वेष अज्ञान भावों को बुरा कहकर, उनका निषेध करता है, अर्थात् उन्हें त्यागने का प्ररूपण करता है। किन्तु वह, किसी व्यक्ति को भला-बुरा नहीं कहता, गुण को अच्छा कहता है और अवगुण को बुरा कहता है। गुणों को भला और अवगुणों को बुरा जानना तो यथार्थ ज्ञान है, उसमें राग है

जैनों में गुणों की अपेक्षा से पूजा का स्वीकार किया है। जैनदर्शन का मूल भेदविज्ञान है, उसके लिये प्रथम गुण को गुणरूप और दोष को दोषरूप जानना चाहिये। जबतक गुण को और अवगुण (दोष) को बराबर न जाने तबतक भेदज्ञान नहीं होता,—गुणों का विकास नहीं होता और दोष दूर नहीं होते। सम्यकप्रकार से पूर्णता के लक्ष्य से प्रारम्भ करके क्रमशः राग द्वेष को दूर करके वीतरागता प्रगट करना ही जैनधर्म का प्रयोजन है। अज्ञान अथवा राग द्वेष अंशमात्र भी हो तो वह जैनधर्म का प्रयोजन नहीं है। सम्यकप्रकार से जितने रागादिभाव दूर हुए उतना लाभ, और जितने दोष रहे उनका निषेध—ऐसी साधकदशा है।

जैनमत में अन्य मिथ्यामतों का खण्डन किया जाता है, वहाँ वाद विवाद का प्रयोजन नहीं है, परन्तु सत् निर्णय का ही प्रयोजन है। अपने ज्ञान को प्रमाणिक और स्पष्ट बनाने के लिये, तथा सत् की दृढ़ता के लिये वह जानना योग्य है, वह राग द्वेष की वृद्धि करने के लिये नहीं है।

जैनधर्म तो वीतरागभावस्वरूप है। प्रथम सम्यग्दर्शन-रूपी जैनधर्म प्रगट होने से श्रद्धा में वीतरागभाव प्रगट होता है और पश्चात् सम्यकचारित्ररूप जैनधर्म प्रगट होने से राग दूर होकर साक्षात् वीतरागभाव प्रगट होता है। किन्तु जब तक श्रद्धा में वीतरागता प्रगट न हो और राग के एक कण को भी अच्छा माने तबतक जीव के जैनधर्म का अंश भी प्रगट नहीं होता। जैनदर्शन प्रथम तो श्रद्धा में वीतरागभाव

कराता है, और पश्चात् चारित्र में वीतरागभाव प्रगट होते हैं। प्रारम्भ से अन्ततक जो राग होता है उसे जैनदर्शन छुड़ाता है। इसप्रकार वीतरागभाव ही जैनदर्शन का प्रयोजन है अथवा वीतरागभाव स्वयं ही जैनधर्म है—राग जैनमत नहीं है।

शुद्धि-पत्र

पेज न०	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
४	७	किसी	किसी भी
१८	८ ६	परलक्ष से होने	पराश्रय करने से
२७	५	प्रकृति	कर्म प्रकृति
२७	८	,,	जड़ प्रकृति
४१	६	क्षणा	क्षमा
६५	३	ससार	ससार
८३	२०	'वभाव	स्वभाव
१००	२१	रिन्तु	किन्तु
१३३	३	ससय	समय
१४१	३	उसवास	उपवास
१६१	४	आत्मा को	आत्मा का